nbt.india

पुस्तक संस्कृति

साहित्य और संस्कृति की द्विमासिकी

वर्ष-6 • अंक-2 • मार्च-अप्रैल 2021 • मूल्य ₹40.00

लोक कला विशेषांक

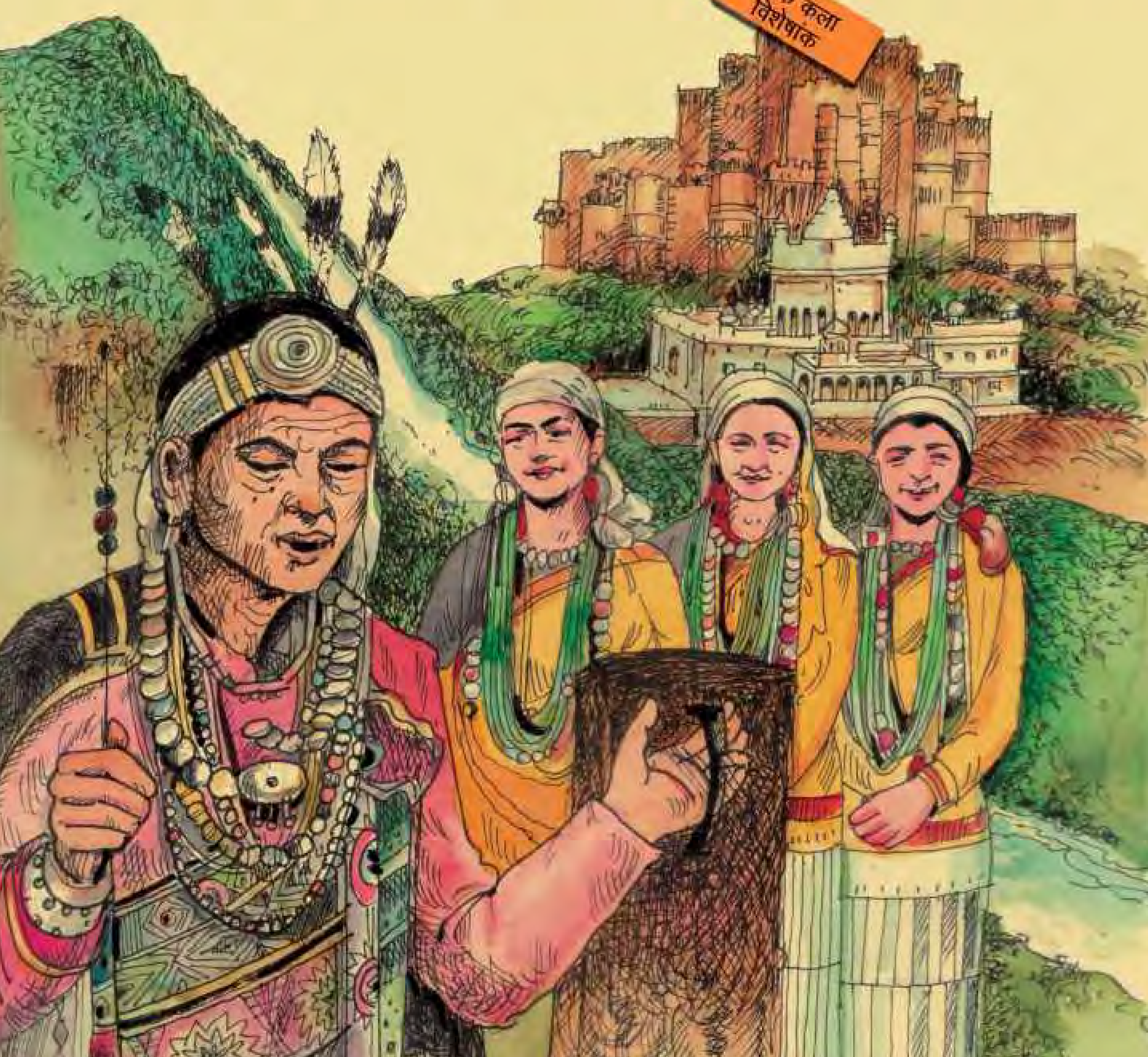

• बाल लेखक लिखेंगे देश की गाथा • मिट्टी : तेरे रूप अनेक • विश्व प्रसिद्ध काँगड़ा कलम

• सोहराय चित्रकला में प्रकृति का मर्म • रावटिया अलंकरण • शामे-अवध के शब्द-चित्र

सीएसआईआर-केंद्रीय सड़क अनुसंधान संस्थान

(आईएसओ प्रमाणित आरएंडडी प्रयोगशाला)

राजभाषा गृह पत्रिका "सड़क दर्पण"

"राजभाषा हिंदी का प्रचार एवं जन-मानस में वैज्ञानिक चेतना का प्रसार"

- वैज्ञानिक तथा तकनीकी लेख
- जनमानस के लिए लोक रूचि के विषय
- संस्थान की विभिन्न गतिविधियों की जानकारी
- संस्थान के अनुसंधान और विकास (आरएंडडी) संबंधित जानकारी
- विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विविध पहलु
- हिंदी में साहित्यिक अभिव्यक्ति
- समसामयिक जानकारी

संपर्क -

संपादक, 'सड़क दर्पण'

राजभाषा अनुभाग, सीएसआईआर-केंद्रीय सड़क अनुसंधान संस्थान

दिल्ली-मथुरा मार्ग, डाकघर सीआरआरआई, नई दिल्ली- 110025

दूरभाष : 26929175, 26831760, 26832325, 26832427/165

ई-पत्रिका का लिंक : **https://www.crridom.gov.in/content/sadak-darpan-hindi-magazine**

प्रधान संपादक
प्रो. गोविंद प्रसाद शर्मा

संपादक
पंकज चतुर्वेदी

सहायक संपादक
दीपक कुमार गुप्ता

संपादकीय सहयोग
विजय कुमार

विज्ञापन एवं प्रसार
कंचन वांचु शर्मा

उत्पादन
अनुज कुमार भारती, पवन दुबे

रेखाचित्र
अरूप गुप्ता

सज्जा/डिजाइन
ऋतुराज शर्मा, समरेश चटर्जी

शब्द संयोजन/कार्यालयीन सहयोग
प्रवीन कुमार, नीलकमल अरोड़ा

सदस्यता शुल्क
व्यक्तियों के लिए
एक प्रति : ₹ 40.00
वार्षिक : ₹ 225.00
(शुल्क भारत के लिए मान्य)

संपादकीय पत्र-व्यवहार
संपादक
पुस्तक संस्कृति
राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत
पता : नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया
फेज़-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070.
फोन : 011-26707876
ई-मेलः editorpustaksanskriti@gmail.com

प्रकाशक व मुद्रक अनुज कुमार भारती द्वारा नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया (राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत) नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज़-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 के लिए प्रकाशित और रेक्मो प्रेस प्रा. लि., सी-59, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया फेज़-I, नई दिल्ली-110020 से मुद्रित।

संपादक
पंकज चतुर्वेदी

सर्वाधिकार सुरक्षित : प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक और प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं के विचार से प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

पुस्तक संस्कृति

साहित्य एवं संस्कृति की द्विमासिकी
वर्ष-6; अंक-2; मार्च-अप्रैल, 2021

>> **लोक कला विशेषांक** <<

इस अंक में

संपादकीय	*प्रो. गोविंद प्रसाद शर्मा*	2
आलेख	**बाल लेखक लिखेंगे देश की गाथा**—*युवराज मलिक*	4
आलेख	**मिट्टी : तेरे रूप अनेक**—*श्यामसुंदर दुबे*	6
लोक गीत	**जनसंचार का अप्रतिम साधन लोक काव्य बिरहा**—*डॉ. धनंजय चोपड़ा*	9
लोक कला	**सौंदर्य की सनातन दीठ–राजस्थान की लोक कलाएँ**—*डॉ. राजेश कुमार व्यास*	13
चित्रकला	**विश्व प्रसिद्ध काँगड़ा कलम**—*सुदर्शन वशिष्ठ*	17
लोक गीत	**अरुणाचल प्रदेश की गालो जनजाति के लोक गीत में स्त्री**—*मोर्जुम लोयी*	20
चित्रकला	**सोहराय चित्रकला में प्रकृति का मर्म**—*कविता विकास*	22
लोक कला	**कुमाऊँ की लोक कला : एपण**—*डॉ. करुणा पांडे*	24
आलेख	**गोवा के लोक गीतों और लोक नृत्यों के संरक्षण में जनजातियों का योगदान**—*डॉ. शुभ्रता मिश्रा*	27
वास्तुकला	**रावटिया अलंकरण**—*बजरंगलाल जेठू*	31
शब्द ज्ञान	**आओ भारतीय भाषाएँ सीखें**	32
आलेख	**सदियों पुरानी कला है इंडोनेशियाई लकड़ी के मुखौटे**—*प्रीता व्यास*	34
आलेख	**शामे-अवध के शब्द-चित्र**—*मोहन शर्मा*	36
आलेख	**भारतीयता के आख्याता : गोस्वामी तुलसीदास**—*डॉ. ऋतु*	40
लोक कला	**महाराष्ट्र के कोंकण की लोक कलाएँ एवं संस्कृति**—*डॉ. रमेश यादव*	43
पुस्तक समीक्षा		47
साहित्यिक गतिविधियाँ		63
पुस्तकें मिलीं		64

भारत की सांस्कृतिक विरासत और हमारा वर्तमान

'विरासत' शब्द का अर्थ है—वह अधिकार जिसके द्वारा कोई व्यक्ति पैतृक संपदा पर वारिस होने के नाते स्वामित्व प्राप्त करता है या पैतृक संपत्ति को प्राप्त करता है अर्थात उत्तराधिकार में जो भी हमें प्राप्त है, वह हमारी विरासत है। राष्ट्र के संदर्भ में जब हम 'विरासत' शब्द का प्रयोग करते हैं तब इसका अर्थ व्यापक हो जाता है। प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान काल तक भौतिक अथवा वैचारिक रूप में हमें जो भी प्राप्त हुआ है, वह हमारी विरासत है। इसमें प्रकृति प्रदत्त भूमि, संसाधन तथा मानव निर्मित/विकसित संस्कृति, सभ्यता, परंपरा, रीति-रिवाज, विज्ञान, तत्वज्ञान, वास्तुकला, संगीत, इतिहास, जीवन दृष्टि सभी कुछ सम्मिलित है। विश्व में ऐसा कोई भी मानव समाज नहीं है, जिसे विरासत में कुछ मिला ही न हो। कौमें विरासत में जीती हैं। हम जिस प्राचीन की चर्चा करते हैं, उसकी उपलब्धियाँ, सफलताएँ-असफलताएँ हमारी विरासत हैं। इसी प्रकार वर्तमान की हमारी उपलब्धियाँ और भूलें भविष्य के लिए विरासत होंगी। इतने व्यापक विषय को इस संपादकीय में पूर्णता के साथ समाहित कर पाना कठिन है। तथापि पुरातन संस्कृति का उत्तराधिकारी होने के नाते यह स्वाभाविक है कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को समझें, क्योंकि भारत की सांस्कृतिक विरासत को समझने का प्रश्न वर्तमान भारत के स्वाभिमान और गौरव को बढ़ाने से जुड़ा है।

भारत की सांस्कृतिक विरासत ने अपने आपको सहेजा है। भारतीय संस्कृति में एक ऐसी अंतःदृष्टि प्रारंभ से ही रही है जो सदैव इस देश के निवासियों का पथ-प्रदर्शन करती रही है। वह है—उसकी व्यापक सोच और संपूर्णता में विचार करने के स्वभाव के परिणामस्वरूप विकसित एकात्म दृष्टि। यही कारण है कि ऊपरी तौर से दिखने वाले भेद, चाहे वे जाति, उपासना पद्धति, भाषा, क्षेत्र, सामाजिक संरचना, दार्शनिक पद्धतियाँ, सामाजिक वर्ग-उपवर्ग आदि कुछ भी हों, सामाजिक रूप से हम एक संपूर्ण आबद्ध समाज और राष्ट्र हैं। इसी विशेषता के कारण भारत की संस्कृति गतिशील रही है तथा उसमें परिष्करण और परिमार्जन की प्रक्रियाएँ निरंतर चलती रही हैं। वे अपनी परंपराओं, अपने अनुभवों एवं बाह्य प्रभावों से निरंतर विस्तार पाती हुई अपना संवर्धन करती रही हैं।

हमें सांस्कृतिक विरासत में उदारता और सर्वधर्म समभाव के उदात्त विचार मिले हैं। हम सेमेटिक धर्म पंथ नहीं हैं। ईसाई और इस्लाम सेमेटिक धर्म पंथ हैं। इनमें धार्मिक उदारता नहीं है। दोनों सेमेटिक धर्म पंथों ने प्राचीन संस्कृति को 'पैगन' (बहुदेववादी) कहा और विश्व में उनके अनुयायियों का उत्पीड़न और विनाश किया। सेमेटिक धर्म पंथ एक मसीहा (पैगंबर), एक धर्म ग्रंथ और एक उपासना विधि में विश्वास करता है। वहीं हम विभिन्न आस्थाओं, विश्वासों, पूजा-पद्धतियों को स्वीकार करते हैं। हम मानते हैं कि विभिन्न उपासना पद्धतियाँ परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग है। शिवमहिम्न स्तोत्र में कहा गया है—

रुचीनां वैचित्र्यदृजुकुटिल नानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अंत में मुझमें आकर मिल जाते हैं।)

गीता में कहा गया है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(जो कोई मेरी ओर आता है, चाहे वह किसी प्रकार से हो, मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ही ओर आते हैं।)

मातृभूमि के प्रति एक विशेष दृष्टि और भाव हमारी सांस्कृतिक विरासत की देन है। वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल में मातृभूमि की संकल्पना और उसके प्रति आस्था केवल राजनीतिक नहीं, अपितु सांस्कृतिक है। भूमि पर विकसित संस्कृति, सभ्यता, परंपरा और इतिहास से जब हम जुड़ते हैं तब हम अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करते हैं। यह जुड़ना भूमि से ही जुड़ना नहीं होता, अपितु एक परंपरा, इतिहास, संस्कृति से जुड़ना होता है। इसका स्वरूप राजनीतिक अथवा निरा सामाजिक नहीं होता, अपितु सांस्कृतिक और आध्यात्मिक होता है। भूमि के प्रति हमारी दृष्टि पुत्र की अपनी माँ के प्रति दृष्टि है। अथर्ववेद में यह इस रूप में व्यक्त हुई है—"माता भूमिः पुत्रो अहम् पृथिव्याः।" (मातृभूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।) अथर्ववेद में ही माँ (मातृभूमि) से ऐश्वर्य और तेज माँगने का भाव भी व्यक्त हुआ है—"भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु" (हे मातृभूमि! तू हमें ऐश्वर्य और तेज प्रदान कर)।

व्यक्ति, परिवार और समाज के बीच संबंधों में व्याप्त भारतीय जनमानस में

सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि का गहरा प्रभाव हमारी सामाजिक रचना और सामाजिक व्यवहार पर पड़ा है। पश्चिमी देशों में संबंधों का आधार अनुबंध है, चाहे वह विवाह हो अथवा अन्य सामाजिक संस्था। इसके विपरीत हमारे यहाँ संबंधों का आधार सांस्कृतिक दृष्टि और पारस्परिक संबंधों की दृढ़ता है, पवित्रता है। यहाँ सामाजिक आत्मीयता का भाव प्रमुख है। पश्चिम में व्यक्ति प्रमुख है। व्यक्ति वहाँ अकेला है। ऐसे में वहाँ अधिकारों का महत्व अधिक है, कर्तव्य-बोध कम।

अधिकारों को अधिक महत्व देने के कारण पश्चिम में व्यक्तिवाद का अतिरेक है। परिणामतः वहाँ अपेक्षाकृत समाज और समुदाय की तुलना में स्वयं की चिंता अधिक है। स्वयं के द्वारा सुख-सुविधाओं को भोगने की वृत्ति वहाँ अधिक है। हमारे यहाँ हमें कर्तव्यों पर जोर देने का संस्कार विरासत में मिला है। परिवार के प्रति, समाज के प्रति और मानव के प्रति कर्तव्यों का निर्वहन सहज और सामान्य रूप में है। यही कर्तव्य-बोध सभी संबंधों का आधार है। यही कारण है कि हमारे यहाँ परिवार या समाज कमजोर नहीं पड़ा।

भारतीय चिंतन सदैव वैज्ञानिक सोच पर आधारित रहा है। वेदों में यद्यपि ऋषियों के प्रकृति और आदिशक्तियों की उपासना के भावात्मक स्वर हमें मिलते हैं तथापि प्रकृति के रहस्यों को समझने के लिए तार्किक एवं ज्ञानयुक्त चिंतन भी हमें वेदों में देखने को मिलता है। यही वैज्ञानिक सोच है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कथन है कि "ऋग्वेद के सूक्त इस अंश में दार्शनिक हैं कि वे संसार के रहस्य की व्याख्या किसी अति मानवीय अंतर्दृष्टि अथवा असाधारण दैवीय प्रेरणा द्वारा नहीं, किंतु स्वतंत्र तर्क द्वारा करने का प्रयत्न हैं।" (भारतीय दर्शन भाग-1, पृ.सं.-55)

उपनिषदों का केंद्रीय विषय 'सत्य की खोज' है। वृहदारण्य उपनिषद में कहा गया है—"असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय॥" अर्थात असत से सत की ओर ले चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। अंतिम लक्ष्य क्या है? उसका आदर्श क्या है? मुक्ति क्या है? पुनर्जन्म सिद्धांत क्या है? आदि का चिंतन पूर्णतः वैज्ञानिक सोच के आधार पर है। यही दृष्टि संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में देखी जा सकती है।

हमें विरासत में मिली ज्ञान परंपरा अत्यधिक समृद्ध और व्यापक है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक विस्तृत रूप से विभिन्न क्षेत्रों में विकसित और पल्लवित भारतीय ज्ञान परंपरा की विश्व में कोई बराबरी नहीं है। इस ज्ञान परंपरा का प्रभाव वेदों से माना जाता है। इसका प्रवाह ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, पुराण, महाकाव्य में प्रवाहित है। वह धर्मग्रंथों, स्मृतियों और दार्शनिक चिंतन में व्याप्त है। हमारी विशाल बौद्धिक संपदा आज भी उतनी ही प्रभावी है, जितनी पहले थी। इस संपदा में केवल अध्यात्म या धर्म विचार ही सम्मिलित नहीं है, अपितु अनीश्वरवादी चिंतन, जिसे प्रायः 'नास्तिक चिंतन' कहा जाता है, जिसे 'चार्वाक चिंतन' भी कहते हैं, सम्मिलित है। बौद्धिक संपदा केवल दार्शनिक चिंतन तक सीमित नहीं है, वह साहित्य, संस्कृति, कला, विज्ञान, भूविज्ञान, ज्योतिष, आयुर्वेद तक विस्तृत है। आत्मा की अमरता, प्राणी मात्र में आत्मानुभूति, वसुधैव कुटुंबकम् की संकल्पना, व्यक्ति, समष्टि और परमेष्टि में एकात्मकता का भाव हमारे चिंतन की दिशा तय कर रहा है।

वास्तुशास्त्र, मूर्तिकला, शैलचित्र, चित्रकला, संगीत और नृत्य, वाद्य यंत्रों के रूप में हमें विशाल सांस्कृतिक विरासत प्राप्त हुई है। सभी कलाएँ अपनी प्राचीनता और निरंतरता का अद्भुत उदाहरण हैं। वास्तुकला के प्राचीन प्रमाण हमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में देखने को मिलते हैं। इसके बाद स्तूप, चैत्यगृह, विहार, मंदिर, प्राचीन भवन, राजमहल, राजाओं की छतरियाँ अपने वैभव और चित्ताकर्षण के साथ हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं। यही स्थिति प्रतिमाओं के निर्माण को लेकर है। ये प्रतिमाएँ देवताओं के अतिरिक्त यक्ष, गंधर्व, नाग, किन्नर आदि की हैं। भारतीय चित्रकला प्रागैतिहासिक काल से ही गुहाचित्रों के रूप में प्रदर्शित हुई है। यही स्थिति गायन (संगीत), नृत्य और वाद्य यंत्रों की है।

वेदों में निहित ज्ञान, उपनिषदों में वर्णित अद्भुत ज्ञानधारा, पुराणों में वर्णित कथाएँ, बौद्ध शिक्षा, जातक कथाएँ, जैन धर्म का अद्भुत आत्मसंयम, षड्दर्शन, रामायण और महाभारत काव्य, उनमें निहित देवत्व की आराधना तथा सत्य और न्याय के लिए संघर्ष, गीता का संदेश, भक्ति मार्ग द्वारा प्रभु के प्रति समर्पण, निराकार ब्रह्म की उपासना, संत परंपरा, आदिशंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक चिंतन एवं संपूर्ण भारत को सांस्कृतिक रूप से एक रखने की उनकी व्यावहारिक योजना, चार धामों की स्थापना आदि सभी भारत की सांस्कृतिक विरासत के भाव हैं।

आज जबकि मिस्र की सभ्यता अकादमिक चर्चा तक सीमित है, सुमेर सभ्यता को विश्व भूल चुका है। ग्रीक और रोमन संस्कृति भूतकाल का विषय बन चुकी है। उस समय हमने अपनी सांस्कृतिक विरासत को सहेजकर रखते हुए नूतन उपलब्धियों के उपयोगी और सार्थक अंशों को स्वीकार किया है। हमारी सांस्कृतिक विरासत हमारी पहचान है। हमें उस पर गर्व है।

(प्रो. गोविंद प्रसाद शर्मा)
प्रधान संपादक, **पुस्तक संस्कृति**

बाल लेखक लिखेंगे देश की गाथा

भारत दुनिया में पुस्तकों का तीसरा सबसे बड़ा प्रकाशक है। इसके बावजूद हमारे देश में लेखन को एक व्यवसाय के रूप में अपनाने वालों की संख्या बहुत कम है। किसी देश के सशक्तिकरण में रक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन या संचार का सशक्त होना तभी सार्थक होता है जब उस देश में उपलब्धियों, जन आकांक्षाओं, भविष्य के सपनों और उम्मीदों को शब्दों में पिरोकर अपने परिवेश के अनुरूप भाषा व अभिव्यक्ति के साथ व्यक्त करने वालों की भी पर्याप्त संख्या हो। एक पुस्तक या पढ़ी गई कोई एक घटना किस तरह किसी इनसान के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन ला देती है, इसके कई उदाहरण देश और विश्व के इतिहास में मिलते हैं। ऐसे बदलाव लाने वाले शब्दों को उकेरने के लिए

भारत अब आठ से 18 वर्ष आयुवर्ग के बच्चों को उनकी प्रारंभिक अवस्था से ही इस तरह तराशेगा कि वे 21वीं सदी के भारत के लिए भारतीय साहित्य के राजदूत के रूप में काम कर सकें। प्रत्येक भारतीय 'विश्व नागरिक' हो, इसके लिए अनिवार्य है कि देश की आवाज उनकी अपनी भाषा में सुगठित तरीके से वैश्विक मंच पर उभरकर आए।

विदित हो 31 दिसंबर के 'मन की बात' में प्रधानमंत्री जी ने कहा था कि भारत भूमि के हर कोने में ऐसे महान सपूतों और वीरांगनाओं ने जन्म लिया, जिन्होंने राष्ट्र के लिए अपना जीवन न्योछावर कर दिया। ऐसे में यह बहुत महत्वपूर्ण है कि हमारे लिए किए गए उनके संघर्षों और उनसे जुड़ी यादों को हम संजोकर रखें और इसके लिए उनके बारे में लिखकर हम अपनी भावी पीढ़ियों के लिए उनकी स्मृतियों को जीवित रख सकते हैं। उन्होंने अपने उद्बोधन में युवा लेखकों से आह्वान किया था कि वे देश के स्वतंत्रता सेनानियों और आजादी से जुड़ी घटनाओं के बारे में लिखें, अपने क्षेत्र में स्वतंत्रता संग्राम के दौर की वीरता की गाथाओं के बारे में किताबें लिखें। भारत अपनी आजादी के 75 वर्ष मनाएगा, तो युवाओं का लेखन आजादी के नायकों के प्रति उत्तम श्रद्धांजलि होगी।

युवराज मलिक

श्री मलिक भारतीय सेना से उपनियुक्ति पर राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत (उच्च शिक्षा विभाग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार) में निदेशक के पद पर कार्यरत एवं वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के अध्यक्ष। रक्षा मंत्रालय, गृह मंत्रालय, राजभवन, जम्मू-कश्मीर, अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र अभियान के साथ-साथ जम्मू-कश्मीर, सिक्किम, पंजाब और राजस्थान में कई अभियानों में भागीदारी। पुस्तक-पठन और पुस्तकों की दुनिया के प्रति उत्साह। विभिन्न शासकीय संस्थाओं में 15 वर्ष का प्रशासनिक अनुभव।

इस दिशा में अब युवा लेखकों के लिए एक पहल की जा रही है जिससे देश के सभी राज्यों और भाषाओं के युवा लेखकों को प्रोत्साहन मिलेगा। देश में बड़ी संख्या में ऐसे विषयों पर लिखने वाले लेखक तैयार होंगे, जिनका भारतीय विरासत और संस्कृति पर गहन अध्ययन होगा।

यह योजना उन लेखकों की एक श्रृंखला विकसित करने में मदद करेगी जो भारतीय विरासत, संस्कृति और ज्ञान प्रणाली को बढ़ावा देने के लिए विषयों के एक व्यापक परिदृश्य पर शोध और लेखन कर सकेंगे। सबसे बड़ी बात यह है कि युवा अपनी मातृभाषा में खुद को व्यक्त कर सकेंगे और उनके लेखन को दुनियाभर में प्रचारित किए जाने का अवसर भी मिलेगा और वैश्विक/अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारत का प्रतिनिधित्व करने का सुअवसर मिलेगा।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने इस महत्वाकांक्षी योजना के क्रियान्वयन का जिम्मा राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत को सौंपा है जो कि गत् 64 सालों से देश में हर नागरिक को कम लागत की स्तरीय पुस्तकें उनकी अपनी भाषा में पहुँचाने के लिए कार्यरत है। न्यास युवाओं को विधिवत् प्रशिक्षण प्रदान करेगा। प्रशिक्षण के लिए आए बाल-लेखकों को विभिन्न प्रकाशन संस्थानों, राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय साहित्यिक उत्सवों में भागीदारी का अवसर भी मिलेगा। यही नहीं, जब उनकी लेखनी निखर जाएगी तो उनकी पुस्तकें प्रकाशित करने का भी प्रावधान है। प्रशिक्षण अवधि में युवाओं को छात्रवृत्ति भी मिलेगी और उनकी भाषा के विख्यात और स्थापित लेखों का मार्गदर्शन भी।

यदि गंभीरता से देखें तो यह योजना राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के उद्देश्यों में निहित एक ज्ञान-आधारित समाज सुगठित करने की दिशा में एक सामाजिक निवेश होगी, जिससे रचनात्मक युवाओं के बीच साहित्य और भाषा की प्रोन्नति के विचार को बढ़ावा मिलेगा। उन्हें भविष्य के लेखकों और रचनात्मक नेताओं के रूप में तैयार करते हुए, यह योजना संचित प्राचीन भारतीय ज्ञान की समृद्ध विरासत को केंद्र में लाना सुनिश्चित करेगी।

देश की सभी 22 अनुसूचित भाषाओं में प्रारंभिक आयु से ही लेखन को एक वृत्ति के रूप में विकसित करने से अन्य करिअर के विकल्प के साथ पठन और लेखन को एक पसंदीदा पेशे के रूप में लाना सुनिश्चित होगा। साथ ही, कई भाषाओं को नए लेखक और पाठक भी मिलेंगे, उन भाषाओं पर मंडरा रहे लुप्त होने के संकट का निदान भी होगा। यदि बाल्यावस्था में ही किसी घटना, स्थान को बारीकी से अवलोकन करने और फिर उसे सुघड़ता से अपने शब्दों में प्रस्तुत करने का गुण विकसित हो जाता है तो ऐसे लोग देश की समस्या, शक्ति, निदान, योजनाओं और क्रियान्वयन पर बेहतर तरीके से कार्य करने लायक होते हैं क्योंकि उनके पास विचार का स्पष्ट चित्र होता है।

इस योजना का विवरण निम्न लिंक पर है—

https://www.mygov.in/campaigns/mentoring-young-authors/

स्वामी विवेकानंद की 158वीं जयंती पर व्याख्यान

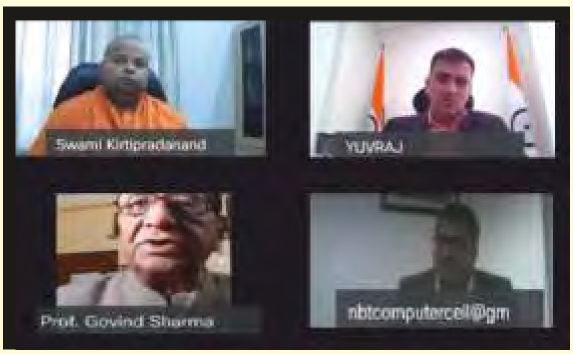

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत की ओर से 12 जनवरी (राष्ट्रीय युवा दिवस-2021) यानी स्वामी विवेकानंद की 158वीं जयंती पर एक ऑनलाइन व्याख्यान आयोजित किया गया जिसका विषय था—'स्वामी विवेकानंद का जीवन और संदेश और समकालीन आधुनिक विश्व में उनके संदेशों की प्रासंगिकता'।

व्याख्यान में रामकृष्ण मिशन विवेकानंद एजुकेशनल एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट, पश्चिम बंगाल के रजिस्ट्रार स्वामी कीर्तिप्रदनंद ने मुख्य अतिथि के रूप में भाग लिया। उन्होंने कहा कि स्वामी विवेकानंद आधुनिक भारत के सच्चे निर्माता थे। हम आज स्वतंत्र और लोकतांत्रिक देश में निवास करते हैं और सशक्तिकरण की ओर अग्रसर हैं, फिर भी स्वामी जी की दृष्टि के कारण अलग-अलग धार्मिक पहचानों को बनाए बिना हमारी राष्ट्रीय पहचान कायम है। उन्होंने स्वामी विवेकानंद के जीवन की कहानी से लेकर शिकागो में उनके द्वारा दिए गए ऐतिहासिक भाषण की चर्चा की। इस अवसर पर न्यास के अध्यक्ष प्रो. गोविंद प्रसाद शर्मा ने कहा कि स्वामी विवेकानंद के जीवन के कार्यों को आत्मसात करना और प्रचार करना समय की आवश्यकता है। न्यास-निदेशक श्री युवराज मलिक ने कहा कि स्वामी विवेकानंद भारतीय ज्ञान परंपरा के प्रवर्तक थे। उनका जीवन और शिक्षाएँ अपरिमेय हैं और आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने अतीत में थे।

मिट्टी तेरे रूप अनेक

पिछले अनेक वर्षों से ग्राम-बसारी (छतरपुर) मध्य प्रदेश में बुंदेली उत्सव धूमधाम के साथ मनाया जाता है। इस उत्सव में मुझे सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। गाँव के हस्तशिल्प से संबंधित कलाकारों की कलाकृतियों को यहाँ न केवल प्रदर्शित किया जाता है, बल्कि उनके विक्रय की भी यहाँ सुविधा है। मैंने एक स्टॉल पर मिट्टी से निर्मित मूर्तिशिल्प की विविध वस्तुओं को विक्रय हेतु रखा पाया। बिक्रीकर्ता से बातचीत के दौरान पता चला कि वह कुम्हार है और पास के गाँव का ही रहने वाला है, उसी ने ये मूर्तिशिल्प गढ़ा है। मृद-शिल्प से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी आजीविका चलाने वाले कुम्हार बुंदेलखंड में अपनी इसी सृजन क्षमता के कारण प्रजापति जैसे आस्पद से संबोधित किए जाते हैं।

श्यामसुंदर दुबे

संप्रति : पूर्व प्राचार्य, स्नातकोत्तर महाविद्यालय एवं पूर्व निदेशक, मुक्तिबोध सृजन पीठ, डॉ. हरीसिंह गौर, वि.वि. सागर (म.प्र.)।

प्रकाशन : लोक संस्कृति पर केंद्रित 12 पुस्तकों सहित अब तक 50 पुस्तकों से अधिक पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान : उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 'साहित्य भूषण' केंद्रीय हिंदी संस्थान का सुब्रह्मण्य भारती सम्मान, म.प्र. साहित्य अकादमी के बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी एवं ईसुरी पुरस्कार आदि।

संपर्क : मोबाइल– 9977421629

ई-मेल : shantanudubey478@gmail.com

मिट्टी के बरतन, घर के छप्पर पर छाए जाने वाले कबेलू और तीज-त्योहारों पर आवश्यक खिलौनों-मूर्तियों का निर्माण कुम्हार ही करते रहे हैं। इस शिल्प के सृजन-संसाधनों में मिट्टी मीसन चक्र, डोरी, डंका जैसी वस्तुओं की अनिवार्य हिस्सेदारी है। कुम्हार जिस मिट्टी को आकृतिवान करता है, वह मिट्टी गाँव की विशेष जगह से निकाली जाती है। पूर्वजों द्वारा चिह्नित इस मिट्टी में लोच-लचक, चिकनापन आदि वे सभी गुण होते हैं, जो कलात्मकता के स्तर पर जरूरी होते हैं। इस मिट्टी को गीला किया जाता है, फिर इसमें मीसन मिलाया जाता है। मीसन, गोबर जैसे पदार्थों के सूख जाने पर उसे महीन पीसकर उसके सूक्ष्म कणों से बनाया जाता है। इसे गीली मिट्टी में मिलाने की यह उपयोगिता है कि जब कच्चे पात्र को आवाँ की आँच में पकाया जाता है, तब मीसन के कण जल जाते हैं, और पात्र सरंध्र हो जाता है।

मिट्टी को रूँद-खूँद कर साना जाता है। इस प्रक्रिया को कबीर ने जाना था 'माटी कहे कुम्हार ते तू क्यों रूँधे मोहि।' अच्छी तरह से मिलाने के बाद क्षैतिज आकार में अपनी अक्ष पर घूमने वाले चक्र के उभरे केंद्र पर मिट्टी का लौंदा रखा जाता है। फिर डंडे के माध्यम से चक्र को घुमाया जाता है। कुम्हार अपने सधे कलात्मक हाथों से घूमती हुई मिट्टी को आकार देना प्रारंभ कर देता है। जब चक्र पर मिट्टी वांछित आकार ले लेती है, तब उसे धागे से काटकर चक्र से उतार लिया जाता है।

चक्र पर विनिर्मित वस्तु-आकार को कुम्हार अपने हाथ और अपने हत्थे से ठोक-पीटकर सुघड़ स्वरूप प्रदान करता है। हत्था लकड़ी का बना होता है। इस प्रक्रिया को गृहस्थी के उन संसाधनों में अधिक प्रयुक्त किया जाता है जिनमें प्रायः जल जैसे पात्र गढ़ने में कुम्हार की कलात्मक रुचियाँ भी प्रकट होती हैं। अनेक प्रकार के घड़े अपने आकार-प्रकार में न केवल अपने आयतन में, बल्कि अपनी सज्जा में भी आकर्षक होते हैं। घड़े के विभिन्न स्वरूपों में सामान्य घट से लेकर परछिया, डहरिया, डबुलिया जैसे बड़े-छोटे आकार के बरतन बुंदेलखंड में प्रचलित हैं। परछिया सामान्यतः घट से कई गुने आकार की होती है। अधिक जल संग्रहण के लिए इसका उपयोग किया

जाता है। इसे दही बिलौने के काम में भी लाया जाता है। डहरिया अपने आकार में परछिया से बड़ी होती है। यह लंबोत्तर अंडाकृति में बनाई जाती है। इसका प्रयोग गाँवों में विवाह-बारातों के अवसरों पर किया जाता था, ताकि इसमें रखा जल शीतल रहे। पोतला, सुराही का

> **बुंदेलखंड सदैव से सभ्यता की दौड़ में पिछड़ा इलाका रहा है, इसलिए बच्चों के खेल-खिलौने के लिए यहाँ मृदशिल्प ही अधिक प्रचलन में रहा है। इन खिलौनों को 'पुतरियाँ' कहा जाता है। एक लोक गीत में ससुराल जाती हुई बेटी अपनी माँ से कहती है कि उसके खेलने की पुतरियाँ आले में रखी हुई हैं। उन्हें नदी में बहा देना ताकि हमारी स्मृति से आप मुक्त हो सकें। पुतरियाँ शब्द संस्कृत के 'पुत्तलिका' का ही अपभ्रंश है। यह पुतला भी है।**

बुंदेली प्रतिरूप है। पोतला, चपटा-गोल मधुमक्खियों के छत्ते के आकार का होता था। इसका मुँह एकदम सँकरा होता था और इसके शीर्ष भाग के दोनों ओर रस्सी फँसाने के लिए कुंदे बनाए जाते थे। इसका प्रयोग कृषक जन दोपहरी में खेती-किसानी के कार्य निपटाते हुए अपनी प्यास की तृप्ति हेतु करते थे। डबुलिया, सबसे छोटा पात्र है। यह अनेक कलात्मक आकृतियों से सजा-सँवरा पात्र था। यह घी-दूध आदि पदार्थों के रखने में प्रयुक्त होता था। सकोरों का प्रयोग प्यालों की तरह किया जाता था। बड़े-बड़े सकोरों में दही जमाया जाता था। यद्यपि अब ये पात्र प्रचलन में नहीं हैं, किंतु घड़े की उपयोगिता अभी भी यथावत है।

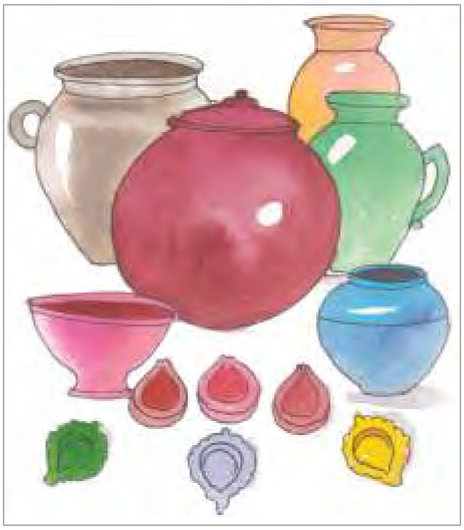

घरेलू उपयोग में आने वाले मृदशिल्प में दीपक, ढिबरी, चिलम, हुक्का और परैया जैसी वस्तुओं का उल्लेख किया जा सकता है। घर में प्रकाश की व्यवस्था के लिए दीपक या दीया का प्रयोग सर्वत्र प्रचलित है। इसे अनेक आकारों और प्रकारों में कलात्मक ढंग से बनाया जाता है। बुंदेलखंड में घर का दीया अनेक वर्षों तक चलता है, जबकि त्योहारों, पूजन-पाठ में प्रयुक्त दीयों का लंबा जीवन नहीं रहता। ढिबरी, बुंदेलखंड के घरों में उस समय प्रकाश के उपकरण के रूप में प्रयुक्त होती थी जब काँच या धातु के उपकरण इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु बाजार में नहीं आए थे। ढिबरी मिट्टी की छोटी-सी डबुलिया होती थी। इसका मुख इतना सँकरा होता था कि इसमें केवल कपास की बत्ती ही जा सकती थी। ढिबरी में तेल भर दिया जाता था और बत्ती डालकर उसे प्रकाशित कर दिया जाता था। इस ढिबरी को रखने के लिए दीयट या दीयाधार भी मिट्टी का ही बनाया जाता था।

चिलम की चर्चा न की जाए तो बुंदेलखंड का मृद्शिल्प अधूरा ही रहेगा। बुंदेलखंड कृषि और वन पर आधारित आजीविका का अंचल है। कृषक और मजदूरों की यहाँ संख्या अधिक है। ये श्रम करते हैं। बीच-बीच में सुस्ताने की दृष्टि से ये तंबाकू का धूम्रपान भी करते हैं। इस धूम्रपान के लिए चिलम का प्रयोग किया जाता है। बुंदेलखंड में निर्मित चिलम का निर्यात अब विदेशों तक में हो रहा है। इस क्षेत्र से ट्रक में भरकर चिलमें हरिद्वार जैसे तीर्थ स्थानों को भेजी जाती हैं। व्यावसायिक दृष्टि में चिलम का बाजार अभी अच्छा चल रहा है। चिलम की आकृतियाँ आकर्षक और कलात्मक होती हैं। फूल-पत्तियों से नक्काशीकृत चिलमों के साथ सर्पाकृति, सिंह और मृग आकृतियों वाली चिलमें भी मिलती हैं। अनेक मुखी चिलमों के साथ इनकी विभिन्न आकृतियों का अपना आकर्षण तो है ही, इनकी लंबाई भी अलग-अलग होती है। चिलम का एक साथी हुक्का भी है। हुक्का का अपरिभाग मृत्तिका निर्मित होता है, यद्यपि कालांतर में यह धातुओं का भी बनने लगा। हुक्का का यह भाग कलाकृतियों के नमूनों की तरह याद किया जाने योग्य है। परैया एक तरह का ढक्कन है। यह ढक्कन घड़ों के मुँह पर रखा जाता है।

मनोरंजनपरक कलात्मक कृतियों का भंडार वृहत् है। बुंदेलखंड सदैव से सभ्यता की दौड़ में पिछड़ा इलाका रहा है, इसलिए बच्चों के खेल-खिलौने के लिए यहाँ मृद्शिल्प ही अधिक प्रचलन में रहा है। इन खिलौनों को 'पुतरियाँ' कहा जाता है। एक लोक गीत में ससुराल जाती हुई बेटी अपनी माँ से कहती है कि उसके खेलने की पुतरियाँ आले में रखी हुई हैं। उन्हें नदी में बहा देना ताकि हमारी स्मृति से आप मुक्त हो सकें। पुतरियाँ शब्द संस्कृत के 'पुत्तलिका' का ही अपभ्रंश है। यह पुतला भी है। पुतला विभिन्न प्राणियों की आकृतियों को कहा जाता है। माटी की ये मूरतें अनेक क्रियाकलापों में संलग्न स्त्री-पुरुषों की होती हैं। देव मूर्तियाँ भी इसी के अंतर्गत आती हैं। गणेश, कृष्ण, राधा, लक्ष्मी, दुर्गा, बड़े बाबा, भैंसासुर की मृत्तिका निर्मित मूर्तियाँ बुंदेलखंड में सर्वाधिक प्रचलन में हैं। नर-नारी के रूप में दूल्हा-दुल्हन, चक्की पीसने वाली, पनिहारिन, ग्वालिन, किसान, शिकारी आदि की पुत्तलिकाएँ प्राप्त होती हैं।

मनुष्येतर प्राणि-संसार में खिलौने के रूप में बंदर, गाय, बैल, हाथी, तोता, मयूर, चिड़िया, कुत्ता, घोड़ा, मगर, मछली, शेर, हिरण

आदि प्राणियों की मृत्तिका निर्मित मूर्तियाँ खिलौनों के रूप में तैयार की जाती हैं। इनके अलावा बेल-बूटों के पटल, पेड़, फूल, पत्ते, मंदिर, झूला, जूतियाँ, धनुष-बाण, तलवार, बंदूक जैसे वस्तु रूपों को भी खिलौनों का आकार दिया जाता है।

व्रत, त्योहार और उत्सवों के अवसर पर भी मृद्‌शिल्प की अनिवार्यता रहती है। दीपावली पर अनेक आकृतियों के दीपक बनाए जाते हैं। दीपाधार के रूप में ग्वालिनी की मूर्ति निर्मित की जाती है। लक्ष्मी-गणेश की मूर्ति का पूजन होता है। वट-सावित्री के अवसर पर दूल्हा-दुल्हन की मूर्तियों का प्रतीकात्मक विवाह किया जाता है। कलश पूजन का विधान तो हर पूजा में होता है।

बुंदेलखंड का मृद्‌शिल्प, लोक की जिन कलात्मक अवधारणाओं को अभिव्यक्त करता है, वे लोक के कल्पना-विधान को एकदम अलग पहचान देती हैं। महालक्ष्मी के पूजन पर्व पर जिस हाथी की

पूजा की जाती है। उसकी संरचना में कुम्हार की सौंदर्य दृष्टि का अद्‌भुत समावेश है। इस हाथी का उदर बेलनाकार होता है। यह दोनों तरफ से खुला रहता है। सूँड के लिए सीधी एक खपच्ची इसके मुख-भाग के ऊपर लगाई जाती है। इस खपच्ची पर मिट्टी का लेप चढ़ाया जाता है। अरहर की दाल के दाने चिपकाए जाते हैं। इस सूँड पर बेल-बूटे उकेरे जाते हैं। उदर के पृष्ठ भाग पर भी बेल-बूटे बनाए जाते हैं। लकड़ी के चारों पैरों पर भी मिट्टी को चढ़ाया जाता है। एक छोटी खपच्ची से पूँछ बनाई जाती है। बुंदेली कला का यह अद्‌भुत नमूना है। नराकृतियों के निर्माण में शारीरिक अंगों की पुष्टता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इनके आभूषण बुंदेली आभूषण ही होते हैं, जैसे—स्त्री के पैरों में तोड़ल, बाँहों में बोटा, कमर में डोरा जो अकसर सात लड़ों का होता है, से स्त्री पुत्तलिकाओं को शृंगारित किया जाता है। इनकी मुखाकृति गोल रहती है—चिबुक भरे-भरे रहते हैं। साड़ी का एक पल्लू सिर पर रहता है। पुरुष मुरैठा बाँधे रहते हैं। घुटनों तक की धोती पहने होते हैं। इनका शरीर भी गठीला होता है। प्राकृतिक वस्तुओं के सृजन में बुंदेली परिवेश अभिव्यक्त होता है। पान और पीपल के पत्तों की बेलें बनाई जाती हैं। गेंदा, गुल, चाँदनी के फूलों को उकेरा जाता है। इस साज-सज्जा के लिए मिट्टी की लड़ियों का इस्तेमाल किया जाता है। मानवाकृतियों में आँख और भौंहें बनाने के लिए भी मिट्टी की लड़ी या छोटी-छोटी बत्तियों का इस्तेमाल किया जाता है। कभी-कभी कौड़ियाँ चिपकाकर भी आँखें बनाई जाती हैं।

खिलौनों और मूर्तियों के शिल्प में गोलाइयों का विशेष महत्व है। सिर, कंधों, नितंबों की आकृतियों में गोलकों का प्रयोग किया जाता है। उदर भाग को बाहर निकला हुआ अर्द्ध-वृत्ताकार रूप में प्रदर्शित किया जाता है। अकसर गणेश की खड़ी मूर्ति नहीं रहती है। यह मूर्ति एक पैर लटकाकर, किसी आसन पर बैठाई गई होती है, जबकि लक्ष्मी, विष्णु, कृष्ण आदि की खड़ी मूर्तियाँ रहती हैं। उन मृद्‌मूर्तियों में जिनका निर्माण पशु-पक्षी तथा सामान्य क्रियाओं में संलग्न मुनष्यों के रूप में किया जाता है, जातिपरकता अधिक रहती है। पंख फैलाए उड़ता तोता या चिड़िया, दौड़ता बंदर, चौकड़ी भरता हिरण, चक्की चलाती स्त्री, कंधे पर हल रखकर चलता किसान आदि में स्थिरता का बोध नहीं होता है।

सभी प्रकार के मृद्‌शिल्प को आवाँ में तपाया जाता है। इस दहन क्रिया से शिल्प में कठोरता आ जाती है। तपाने के पहले रंग पोता जाता है। अधिकतर आवाँ में तपने के बाद इन वस्तुओं का रंग जोगिया हो जाता है। आवाँ, गाँव के बाहर या कुम्हार के घर के आस-पास किसी चौगान में लगाया जाता है। इसमें प्रयुक्त ईंधन लकड़ी, कंडे (उपले) और कोयला के रूप में रहता है।

इस शिल्प को अब 'टेराकोटा' और 'सिरेमिक' के नाम से भी जाना जाता है। अनेक नामचीन कलाकार, इस क्षेत्र में कार्यरत हैं। इस शिल्प की प्रदर्शिनयाँ आयोजित हो रही हैं। इसे पैतृक व्यवसाय के रूप में चलाने वाले अब इक्के-दुक्के कुम्हार ही शेष हैं। इनके सामने अनेक चुनौतियाँ हैं। धातु निर्मित पात्रों और प्लास्टिक से निर्मित वस्तुओं का बाजार फैल चुका है। जिस जमीन से ये कुम्हार मिट्टी लाते थे, उसे 'खदान' कहा जाता था। अब खदान का नामो-निशान ही नहीं बचा है। गाँव के दबंगों ने उस पर कब्जा कर लिया है। नई पीढ़ी अपने पैतृक व्यवसाय में रुचि नहीं ले रही है। मेहनत और लागत के अनुरूप मूल्य नहीं मिल रहा है।

इस सबके बावजूद अभी भी गर्मियों में मिट्टी के घड़े का कोई विकल्प नहीं है। घड़े के शीतल सौंधे जल को पीने की इच्छा समाप्त नहीं हुई है। सभ्यता के विकास आधारित चक्रीय क्रम में कभी-कभी पुरा वस्तुओं का पुनः आगमन शुरू हो जाता है। मिट्टी की हाँडी, मिट्टी की सुराही, ड्राइंग रूम में सजावट के लिए मिट्टी के खिलौने, एक यह आश्वास्ति दे रहे हैं कि एक बार फिर इस लोक शिल्प की माँग बढ़ रही है। छत्तीसगढ़, बुंदेलखंड, मालवा आदि क्षेत्रों में यह लोक शिल्प अपने व्यावसायिक केंद्र भी स्थापित करने में संलग्न है। भोपाल के आदिवासी कला केंद्र पर इस वैकल्पिक कला विधान का संग्रहालय बनाया गया है। यद्यपि इस सत्य से मुँह नहीं चुराया जा सकता है कि गाँवों में यह शिल्प मर-मर कर जी रहा है।

जनसंचार का अप्रतिम साधन लोक काव्य बिरहा

किसी भी कला का कार्य मानवीय चेतना के विकास में मदद करना और सामाजिक ताने-बाने को मजबूत बनाना होता है। प्रत्येक समाज ऐसी कलाओं की प्रतीक्षा करता है, जो उसे समय के अनुरूप विकास के रास्ते पर चलने और आगे बढ़ने को प्रेरित करती हैं और सहायक बनती हैं। उन कलाओं का जीवन बहुत छोटा होता है, जो लोकभावना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित नहीं होतीं। कला की इन कसौटियों पर हमारी लोक कलाएँ सहजता से खरी उतरती हैं।

डॉ. धनंजय चोपड़ा

संप्रति : 25 वर्षों तक पत्रकारिता करने के बाद अब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सेंटर ऑफ मीडिया स्टडीज में पाठ्यक्रम समन्वयक के पद पर कार्यरत।

प्रकाशन : विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में दो हजार से अधिक आलेख व स्तंभ के साथ-साथ 15 पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान : सूचना प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार का भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार, उ.प्र. हिंदी संस्थान, लखनऊ का बाबूराव विष्णु पराडकर तथा धर्मवीर भारती पुरस्कार, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, नई दिल्ली का महात्मा गांधी हिंदी लेखन पुरस्कार, विज्ञान परिषद का शताब्दी सम्मान सहित कई अन्य महत्वपूर्ण सम्मान।

संपर्क : मोबाइल– 9415235113

ई-मेल : c.dhananjai@gmail.com

वास्तव में लोक कलाएँ पूरे समाज की होती हैं। समाज में निहित समुदाय, जातीय समूह या परिवार इसके उद्‌भव और विकास के लिए उत्तरदायी हैं, लेकिन इन पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। जीवन के विविध रूपों से जुड़ी लोक कलाएँ न केवल पीढ़ियों का मनोरंजन और ज्ञानवर्धन करती हैं, बल्कि कठिन शारीरिक श्रम के उपरांत राहत देने का उपक्रम भी करती हैं। लोक जीवन के अधिक निकट होने के कारण लोक कलाओं और इनके सभी रूपाकारों के संबंध में समाज का हर सदस्य सहजता से जानता है और उसे आत्मसात कर लेता है। यही नहीं वह अपनी परंपराओं और जीवन-शैली के अनुरूप थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके इन लोक कलाओं का सहभागी बन जाता है। ऐसा होने के कारण ही लोक कलाओं में कलाकार और श्रोता या दर्शक का कोई विभेद होता ही नहीं। कलाकार ही श्रोता या दर्शक होता है और दर्शक या श्रोता ही कलाकार। यही वजह है कि लोक कलाएँ समाज की किसी निर्धारित सीमा में निहित रहने की मोहताज नहीं होतीं और न ही उन्हें किसी विशिष्ट समय खंड या सांस्कृतिक-ऐतिहासिक संदर्भ से जोड़कर देखा जा सकता है।

बात जब लोक मीडिया की होती है तब लोक काव्य या लोक गीत अपनी लोकप्रियता के कारण अग्रसर की भूमिका में होते हैं। समाज में निहित इच्छाएँ और भावनाएँ भले ही समाज के ही द्वारा निगमित और नियंत्रित होती हैं, लेकिन उन्हें अभिव्यक्ति देने का काम लोक कलाएँ ही करती हैं और इनमें लोक काव्य सबसे आगे रहता है। लोक काव्य न केवल किसी समाज के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, कला-संस्कृति, परंपरा-संस्कार और पर्व-त्योहार का सम-सामयिक कथानक बुनते हैं, बल्कि उसे समय और समाज की जरूरतों के अनुरूप ढालकर आगे बढ़ाते हैं। इस काम को करने में कई लोक काव्य जातीय या सामुदायिक

पहचान की सीमा को लाँघकर विस्तार पा जाते हैं और लोक मानस की चेता शक्तियों का पर्याय बन जाते हैं। बिरहा लोक काव्य इन्हीं में से एक है। बिरहा पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के यादवों का जातीय गीत है, लेकिन यह स्वतंत्र रूप से विकसित होने के कारण जातीय संवेदना से ऊपर उठकर एक सर्वमान्य लोक काव्य का रूप प्राप्त कर चुका है। यही वजह है कि बिरहा को जनसंचार की वाचिक परंपरा के अप्रतिम साधन के रूप देखना कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

वास्तव में समाज के एकदम निचले और एकदम भीतरी स्तर तक जाकर जन-जागरूकता लाने का जो काम कास्टिंग के आधुनिक सिस्टम यानी प्रिंट कास्ट (अखबार), टेली कास्ट (टेलीविजन), ब्रॉड कास्ट (रेडियो) नहीं कर पा रहे हैं, उसे वाचिक परंपरा के उपक्रम यानी ह्यूमन कास्ट के सहारे पूरा किया जा सकता है और जब हम वाचिक परंपरा की ओर देखते हैं तो हमारा ध्यान हमारे वे लोक काव्य-लोक गीत आकर्षित करते हैं, जिन्होंने अपनी जातीय, धार्मिक व देशज हदों को न केवल पार किया है, बल्कि नए-नए प्रयोगों की संभावनाओं को तलाशा, तराशा और उन्हें आत्मसात कर अपने को अद्यतन समाज के अनुरूप तैयार कर लिया। एक बड़ा सच यह भी कि इस तरह का अभिनव प्रयास उस समय इनकी लोकप्रियता के ग्राफ बढ़ाता रहा है, जब आधुनिक जीवन-शैली के संकट को लेकर संस्कृति-समाज हाय-तौबा मचा रहा था। इन लोक काव्यों-लोक गीतों में जो नाम सबसे ऊपर हैं, उनमें बिरहा शामिल है।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक लोक कला की ही तरह बिरहा का भी इतिहास अलिखित बिखराव लिए हुए है। लेकिन, इसके बरअक्स बड़ी बात यह है कि लोक स्मृतियों में यह जिस तरह से दर्ज होता आ रहा है, वह अद्वितीय है। इन्हीं लोक स्मृतियों का एक पक्ष बिरहा को पौराणिक लोक गीत की संज्ञा देता है। कहा जाता है कि बिरहा का प्रारंभ तब हुआ जब भगवान कृष्ण मथुरा छोड़कर वृंदावन चले गए। विरह में तड़पते ग्वाले गाय चराते समय, गाय का दूध दुहते गोपियाँ या फिर मक्खन निकालते समय विरह गीत गाकर अपनी मनोभावनाओं को प्रकट किया करती थीं। कहा जाता है कि उन दिनों दिन ढलते ही लोग भगवान कृष्ण के वापस गोकुल लौट आने की प्रार्थना करता थे। इस पक्ष के विद्वान यह मानते हैं कि कृष्ण वियोग में प्रारंभ हुआ बिरहा गायन कालांतर में ग्वालों की अपनी जिंदगी और सरोकारों से जुड़ता चला गया और लोक गायन की फेहरिस्त में शामिल हो गया।

बिरहा का आधुनिक स्वरूप 17वीं शताब्दी में तब सामने आया, जब अंग्रेजों ने भारतीय मजदूरों को कैरेबियाई देशों में भेजा। अपने गाँव-गिराँव से दूर गए इन गन्ना मजदूरों ने पराए देश में रामचरितमानस और अपनी लोक कलाओं के सहारे ही जीवन जीना शुरू किया। एक तरफ इन मजदूरों के विरह में उनके अपने देश में गाँव के लोग बिरहा गाया करते थे तो दूसरी तरफ इन मजदूरों ने भी अपने नए ठिकाने में रहते हुए अपने परिजनों व संगी-साथियों के विरह को जेहन में बनाए रखा। बाद के दिनों में ये गन्ना मजदूर उन्हीं देशों के बाशिंदे ही हो गए। बड़ी बात यह थी कि इन लोगों ने न तो जन्मभूमि से जुड़ी अपनी पहचान को खोया और न ही अपनी संस्कृति, परंपरा, रीति-रिवाजों को ही छोड़ा। यह जरूर था कि जिस देश व समाज में इन्होंने अपना अस्तित्व बनाना चाहा, वहाँ की संस्कृति और परंपराओं के उस हिस्से को आत्मसात कर लिया, जो इन्हें जीवन जीने के लिए बेहतर लगा। यह वजह रही कि बिरहा भी अपने मूल रूप में नहीं रहा। इसमें वहाँ के कथ्य, रागों व वाद्यों का इस तरह मेल हुआ कि इन प्रवासियों को पता ही नहीं चला कि कब उनके विरह-वेदना का साथी बिरहा, चटनी और सोका-साँबा कहलाने लगा, ये समझ भी न पाए। आज स्थिति यह है कि इन कैरेबियाई देशों में बिरहा के प्रतिरूप चटनी और सोका-साँबा के गायन के बिना कोई भी लोकोत्सव संपन्न ही नहीं होता है।

अंग्रेजी हुकूमत के दौरान देश के भीतर भी ऐसी ही परिस्थितियाँ बनीं कि बिरहा गीत कई परिवारों का सहारा बना। अंग्रेजों के बढ़ते

प्रभुत्व ने जहाँ भारतीयों के कुटीर व घरेलू उद्योग समाप्त किए, वहीं शहरीकरण को बढ़ावा दिया। नतीजा यह हुआ कि गाँवों में बेकारी का शिकार हुए लोग शहरों की ओर भागने लगे। संयुक्त परिवार विखंडन का शिकार हो गए। एकल परिवारों के उद्‌भव के कारण समाज का ताना-बाना ही बिखर गया। कहीं घर की औरतों को पुरुषों के शहर चले जाने का विरह था तो कहीं बेटे-बहू-पोते-पोतियों के ही चले जाने का विरह था। भरे-पूरे नजर आने वाले गाँव एकाएक वीरान नजर आने लगे। ऐसे में शाम की तनहाइयों का सहारा बना बिरहा और ऐसे ही कई अन्य लोक गीत। बिरहा इसलिए अधिक लोकप्रिय हुआ, क्योंकि इसमें मानवीय संवेदनाओं के हर पुट का समावेश होता है। इसमें दुख, विरह, पीड़ा है तो मनोरंजन, हँसी और चुहलबाजी भी।

यद्यपि बिरहा गायक और जनश्रुतियाँ 17वीं शताब्दी में बिरहा गाए जाने का हवाला देती हैं, लेकिन इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण या फिर किसी बिरहा गायक के प्रसिद्ध होने का कोई प्रमाण या उनका नाम उपलब्ध नहीं है। इस तरह के साक्ष्यों की उपलब्धता 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मिलती है। इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर आधुनिक बिरहा का जनक बिहारी लाल यादव उर्फ बिहारी गुरु को माना जाता है। प्रारंभ में बिहारी गुरु रामकथा से जुड़ा कथात्मक बिरहा ही गाया करते थे। उस समय एक विशेष लकड़ी से बने वाद्य को बजाते हुए बिरहा गाया जाता था। साथ में ढोलक की थाप भी सुनाई देती रहती थी। बाद के दिनों में बिहारी ने स्वयं भी गीत लिखने शुरू किए और गीत के विषयों को वैविध्य भरा विस्तार भी दिया। बिहारी की प्रारंभिक पंक्तियों में से कुछ इस तरह की हुआ करती थीं—

लकड़ी ढोल बजाना सीखो
लय में सुर में गाना सीखो।
गुरु ज्ञान को सूरुज नाईं
जग में तुम फैलाना सीखो।
ज्ञानी ज्ञान देत निगुनी क हो कल्यनवाँ
बिहनवाँ ओकरे जीवन में आई।

कहा जाता है कि बिरहा गाने के साथ-साथ बिहारी गुरु ने इनके कथ्य और शैली में कई परिवर्तन किए और उसे अधिक मनोरंजन व ग्राह्य बनाया। 'खड़ी बिरहा' बिहारी गुरु जी की उत्पत्ति है। लोक गायकों की स्मृतियों में बिहारी गुरु बिरहा के पितामह हैं। उनका गुरुकुल 'बिहारी अखाड़ा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने शिष्यों को प्रशिक्षित करने के साथ-साथ बिहारी गुरु ने बहुत से बिरहा गीत लिखे और उनकी धुन तैयार की। यही नहीं उन्होंने बिरहा गायन के समय बजाए जाने वाले एक नए वाद्य यंत्र को भी बनाया। 'करताल' नामक इस यंत्र में टेपर्ड लोहे की नौ इंच लंबी दो रॉड होती हैं, जिन्हें हाथ में लेकर बजाया जाता है। आज यह वाद्य बिरहा गायकों की पहचान बन चुका है। बिहारी गुरु ने बिरहा को लोकप्रिय बनाने की मुहिम चला

“'खड़ी बिरहा' बिहारी गुरु जी की उत्पत्ति है। लोक गायकों की स्मृतियों में बिहारी गुरु बिरहा के पितामह हैं। उनका गुरुकुल 'बिहारी अखाड़ा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने शिष्यों को प्रशिक्षित करने के साथ-साथ बिहारी गुरु ने बहुत से बिरहा गीत लिखे और उनकी धुन तैयार की। यही नहीं उन्होंने बिरहा गायन के समय बजाए जाने वाले एक नए वाद्य यंत्र को भी बनाया। 'करताल' नामक इस यंत्र में टेपर्ड लोहे की नौ इंच लंबी दो रॉड होती हैं, जिन्हें हाथ में लेकर बजाया जाता है। आज यह वाद्य बिरहा गायकों की पहचान बन चुका है।”

रखी थी। बिहारी ने ही बिरहा को शहरी मंच पर प्रस्तुत करने की पहल की। पहली बार बिरहा संगीत नगरी बनारस के मंच पर प्रस्तुत हुआ। यह समय 1886 के आस-पास का था। वाराणसी शहर से लगभग सात किलोमीटर की दूरी पर 'कपिलधारा' नामक स्थान पर कपिलमुनि का आश्रम स्थित है। इसी आश्रम में बिहारी गुरु की प्रतिमा स्थापित की गई है। बिरहा गायकों व कवियों के लिए यह स्थल किसी तीर्थ स्थान से कम नहीं है। गुरु पूजा के अवसर पर यहाँ मेला लगता है। देश भर से बिरहा गायक यहाँ उपस्थित होते हैं और अपनी-अपनी प्रस्तुतियों के माध्यम से बिरहा के पितामह बिहारी गुरु के प्रति श्रद्धानवत होते हैं।

19वीं सदी के समाप्त होते-होते बिरहा घरानों की उपस्थिति दर्ज होनी शुरू हो गई थी। इन्हें 'अखाड़ा' के नाम से जाना जाता था। इन अखाड़ों में से अधिकांश बिहारी गुरु के शिष्यों द्वारा ही संचालित किए जा रहे थे। अखाड़ों के बीच बेहतर शिष्यों को तैयार करने और उनकी बेहतर प्रस्तुतियों को लेकर होड़ मची रहती थी। उन्हीं दिनों बिरहा दंगल आयोजित करने की परंपरा का प्रारंभ हुआ। बिरहा दंगल प्रस्तुतिपरक प्रतियोगिता हुआ करती है। इसमें जन-मानस की उपस्थिति में मंच पर बिरहा गायकों की दो टीमें होती हैं। दोनों टीमों के गायक सवाल-जवाब के तर्ज पर गायन प्रस्तुत करते हैं। एक निर्णायक मंडल भी होता है जो अंत में तय करता है कि किस टीम ने यह दंगल जीत लिया है। जिस अखाड़े की जीत होती है, वह जुलूस निकालकर अपनी जीत का जश्न मनाता है। विजयी अखाड़े में विशेष पूजा व भंडारे का भी आयोजन होता है। बाद के दिनों में बिरहा दंगल दो गायकों के बीच भी आयोजित होने लगा। विजयी रहने वाले गायकों को मंच पर पगड़ी पहनाने और नगद राशि के साथ स्मृति चिह्न पुरस्कार में देने की परंपरा भी पनपी।

20वीं सदी में साठ का दशक बिरहा के लिए महत्वपूर्ण कहा जा सकता है, जब पहली बार बिरहा के रिकॉर्ड बाजार में आए। कुछ ही वर्षों में पहली बार आकाशवाणी (ऑल इंडिया रेडियो) के इलाहाबाद केंद्र से बिरहा प्रसारण हुआ। बाद में बनारस के लिए सारनाथ में

को पूरा करने के उद्देश्य से बिरहा गा रहे हैं। अकेले आकाशवाणी के इलाहाबाद केंद्र में ही दो सौ से भी अधिक बिरहा पार्टियाँ नामांकित हैं, जो समय-समय पर रेडियो में अपनी प्रस्तुतियाँ दे रही हैं।

यह अनायास नहीं है कि पश्चिमी बिहार और उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल के जिलों में चुनावों के समय बिरहा गायकों का भरपूर प्रयोग किया जाता है। चाहे निकाय के चुनाव हों या फिर विधानसभा या लोकसभा के, बिरहा प्रस्तुतियाँ पहले होती हैं और चुनावी भाषण बाद में। बिरहा गायक जितना अधिक लोकप्रिय होता है, उस चुनावी

रेडियो स्टेशन स्थापित हुआ तो बिरहा का नियमित प्रसारण होने लगा। रेडियो प्रसारण बिरहा की लोकप्रियता को विस्तार देने में सफल रहा। 1982 में देश भर में लो पावर ट्रांसमीटर नेटवर्क विकसित होने और कई प्रमुख शहरों में दूरदर्शन के स्थानीय केंद्र व स्टूडियो स्थापित होने के बाद बिरहा प्रस्तुतियों को नया आयाम मिला। इलाहाबाद व वाराणसी दूरदर्शन केंद्रों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बिरहा गायन को एक नया आयाम तब मिला जब पहली बार यह लोक गीत फिल्मों का हिस्सा बना। भोजपुरी फिल्म 'सोनवा के पिंजरा' से बिरहा गायन की फिल्मों में यात्रा प्रारंभ हुई, जो अब अनवरत जारी है। बाद के वर्षों में भोजपुरी फिल्म उद्योग के विकास के साथ ही बिरहा गायन को नित नई सफलताएँ मिलती रही हैं। पॉलीवुड (पूर्वांचल में फिल्म उद्योग को बॉलीवुड की तर्ज पर मिला नाम) ने बिरहा की जनप्रियता को न केवल भुनाया, बल्कि उसे आगे बढ़ने का अवसर भी उपलब्ध कराया। नब्बे के दशक में बिरहा गीतों के ऑडियो कैसेट बाजार में आए और बिरहा प्रेमियों द्वारा हाथों-हाथ लिए गए। 20वीं सदी के अंतिम दशक में बिरहा गीतों की सीडी का विमोचन हुआ। इंटरनेट पर भी बिरहा गीतों को उपलब्ध कराया गया है।

बहरहाल बिरहा गीतों की लोकप्रियता अभी भी कायम है। यह सही है कि अब न तो शहर के प्रसिद्ध मंदिरों से जुड़ी शृंगार कमेटियाँ ही बची हैं और न ही उस तरह के भीड़ बटोरने वाले बिरहा दंगल ही आयोजित हो रहे हैं। लेकिन बिरहा गाया जा रहा है, सुना जा रहा है और आगे भी बढ़ाया जा रहा है। गुरु-शिष्य परंपरा के तहत बिरहा गायक तैयार हो रहे हैं। बिरहा का जातीय बंधन खत्म हो चुका है। अब कई जातियों के लोक गायक आजीविका और श्रोताओं की माँग

सभा में भीड़ उतनी अधिक होती है। यही वजह है कि प्रत्याशियों में लोकप्रिय गायकों को अपनी सभा में बुलाने की होड़ मची रहती है। उत्तर प्रदेश की तर्ज पर हरियाणा में चुनावों के दौरान बिरहा के प्रतिरूप रागिनी को गवाने का चलन है। ऐसा ही बिरहा गायन का एक अभिनव प्रयोग आजमगढ़ में विज्ञान के प्रति जागरूकता लाने के उद्देश्य से दिखा, जहाँ एक स्वयंसेवी संगठन ने जन-जागरूकता के लिए बिरहा गायकों का उपयोग किया। बिरहा कवियों ने विज्ञान की तकनीकियों से लैस इतनी सरल भाषा में गीत तैयार किए कि सुनते ही बनता था। बड़ी बात यह है कि बिरहा का कथ्य हमेशा ही आम आदमी के आस-पास की दुनिया से उठाया जाता है। यही वजह है कि इस गीत को सुनते समय श्रोता गीत के कथ्य में स्वयं की उपस्थिति अनुभव करता है। संप्रेषणीयता की यही चरम स्थिति मानी जा सकती है, जो बिरहा में सहजता से मिल जाती है। गायक और श्रोता के बीच जिस तरह का उष्मीय संबंध बिरहा प्रस्तुति के दौरान बनता है, वैसा और कहीं नहीं बनता।

जनसंचार की वाचिक परंपरा के इस प्रमुख व महत्वपूर्ण साधन बिरहा की पकड़ अभी भी भोजपुरी ही नहीं, बल्कि उससे जुड़े सभी क्षेत्रों में बनी हुई है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार में तो बिरहा की पकड़ किसी आनुष्ठानिक गायन से कम नहीं है। जैसे-जैसे अब इन इलाकों के लोग नौकरी, व्यापार या अन्य कारणों से विस्तृत क्षेत्र में फैल रहे हैं, वैसे-वैसे बिरहा भी क्षेत्रीय सीमाओं को तोड़कर विस्तार ले रहा है। जातीय व क्षेत्रीय सीमाओं से परे जाकर बिरहा ने जिस परिष्कार को प्राप्त किया है, वह जनसंचार की जरूरतों पर खरा उतरने के लिए काफी है। यही वजह है कि नए संदर्भों में बिरहा को जनसंचार की वाचिक परंपरा के उपकरण के रूप में और अधिक विकसित करने की जरूरत है।

सौंदर्य की सनातन दीठ राजस्थान की लोक कलाएँ

भारतीय कला लोकोन्मुखी है। हमारे यहाँ शास्त्रों में भी जो कुछ चित्रित होता रहा है, उसके बीज लोक में ही रहे हैं। लोक यानी इंद्रियगोचर प्रत्यक्ष अनुभव। लोक के संबंध में मन जब भी विचार करता है, तुलसीदास जी का लिखा जेहन में कौंधने लगता है। वह लिखते हैं, 'लोकहु वेद सुसाहिब रीती। विनय सुनत पहिचानत प्रीती।' गौर करेंगे तो पाएँगे लोक की सत्ता यहाँ पर वेद की महत्ता के साथ प्रकट हुई है। वेद और लोक दोनों ही हमारी समृद्ध परंपरा, विरासत और संस्कृति को आलोकित करने वाले हैं।

लोक में व्याप्त दृष्टि ही हमारी सनातन संस्कृति है। मुझे लगता है, भारतीय संस्कृति से राग-अनुराग कराती ये लोक कलाएँ ही हैं जो अंतर्मन को दृश्य में प्रकट करती हैं। आचार्य नरेन्द्र देव ने संस्कृति को 'चित्त की खेती' कहा है। यानी मन में जो कुछ उपजता है, वही हमारी संस्कृति है। लोक और संस्कृति का इसीलिए परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध रहा है। लोक कलाएँ जीवन का आलोक हैं। लोक का वैदिक अर्थ है—प्रकाश। यह संपूर्ण दृश्य जगत। वहाँ जीवन का नाद है। जड़त्व की बजाय प्रवाह है।

राजस्थान की लोक कलाओं में मनुष्य ही नहीं, उसका परिवेश, पशु-पक्षी, प्रकृति और उससे जुड़ी अनुभूतियों का सब-कुछ व्याप्त मिलता है। भोर का उजास, साँझ की ललाई और प्रकृति से जुड़ी तमाम अनुभूतियों का अंकन लोक कलाओं में यहाँ है। एक खास बात और कि मानव ने जिसने ईश्वरीय कार्य किया, लोक में वह सदा ही पूजा गया। इसीलिए पाबू जी, गोगा जी, आल्हा-उदल, बाबा रामदेव के रूप में लोक देवताओं के चित्रण हुए तो प्रतीकात्मक रूप में भी इन देवी-देवताओं से जुड़ी गाथाओं को गाया और लोक कलाओं में निरंतर संजोया गया है।

असल में लोक गाथाओं के अंकन में लोक हममें सदा रचता-बसता रहा है। मुझे कई बार यह भी लगता है कि इतिहास जहाँ पहुँच नहीं पाता, वहाँ लोक पहुँचा है। मौखिक परंपरा से स्मृति को चिरकाल तक जन-मन तक जीवंत रखने का कार्य हमारी लोक चित्रकला ने ही किया है।

राजस्थान लोक कलाओं का गढ़ है। गाँव से लेकर राजमहलों, हवेलियों के प्रवेश द्वारों पर पारंपरिक द्वारपाल के चित्र मिलेंगे।

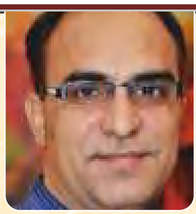

डॉ. राजेश कुमार व्यास

संप्रति : संयुक्त निदेशक, राज्यपाल, राजस्थान। केंद्रीय साहित्य अकादेमी के सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित देश के चर्चित संस्कृतिकर्मी, कवि, कला आलोचक एवं यात्रा वृत्तांतकार। केंद्रीय ललित कला अकादमी की पत्रिका 'समकालीन कला' के एक अंक के अतिथि संपादक।

प्रकाशन : राजस्थान ललित कला अकादमी की पत्रिका 'आकृति' के 'लोक आलोक' और 'कलाओं के अंतःसंबंधों' पर प्रकाशित विशेष अंकों का संपादन। 'भारतीय कला', 'कलावाक्', 'रंगनाद', 'रस निरंजन' 'सुर जो सजे', (कला) 'नर्मदे हर', 'कश्मीर से कन्याकुमारी', (यात्रावृत्तांत), 'झरने लगते हैं शब्द', 'कविता देवै दीठ' (कविता संग्रह), 'सांस्कृतिक राजस्थान' आदि चर्चित पुस्तकें। दूरदर्शन द्वारा उनके लिखे एवं शोध पर आधारित 'डेजर्ट कॉलिंग' धारावाहिक का प्रसारण।

सम्मान : राजस्थान साहित्य अकादेमी, 'राहुल सांकृत्यायन', पत्रकारिता का 'माणक' अलंकरण सहित और भी अन्य सम्मान।

संपर्क : मोबाइल— 9829102862

हाथी, घोड़े, मोर और भाँति-भाँति के मांडणों से लोक में रचा-बसा हमारा पूरा का पूरा परिवेश अलंकृत होता रहा है। मोलेला में मिट्टी से बनी वस्तुओं का लोक लुभाता है तो भीलवाड़ा में फड़ की सुरम्य दीठ है, शेखावाटी की हवेलियों में सजा कला का पूरा का पूरा जग है तो नाथद्वारा की पिछवइयाँ और गवर-ईशर का अंकन आस्था के

अलौकिक लोक में हमें ले जाता है। बाँसवाड़ा, डूँगरपुर, प्रतापगढ़ आदि आदिवासी—जनजातीय कलाओं से संपन्न हैं तो हमारे लगभग सभी गाँवों में मृण्मूर्तियाँ, मिट्टी के घड़े, दीवारों पर फूल-पत्तियाँ, पशु-पक्षियों और मानवीय व्यवहारों के अंकन की लोक संस्कृति आज भी हमें सहज जीवन की ओर ले जाती प्रतीत होती है।

बहरहाल, राजस्थान की लोक कलाएँ प्रकृति से अनुप्रेरित रही हैं। भोर का उजास, उजली धूप, साँझ की लाली, तारों छाई रात में छिटकती चाँदनी को अनुभूत करना हो तो राजस्थान के लोक कलाओं के भव में प्रवेश करना होगा। वहाँ जाएँगे तो उजास की उजास पाएँगे। एक खास बात और भी कि राजस्थानी लोक चित्रों में जीवन है तो किसी एक अर्थ में नहीं है, समग्रता में है। लोक कलाएँ जीवनगत सौंदर्य की सनातन दीठ हैं।

राजस्थान के ग्रामीण अंचलों में मांडणों का विरल, अद्भुत लोक है। महिलाएँ मांडणों के अंतर्गत अपनी अंतर्निहित भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं, यह कहते हुए, 'आंगरियाँ जद डूबसी जदं आसी तेवार'। यानी उँगलियाँ जब रंगों में डूबेंगी तभी कोई नया पर्व, त्योहार आएगा। इसीलिए राजस्थान के मांडणे उत्सवधर्मिता के प्रतीक हैं। जब भी कहीं कोई खुशी का अवसर होता है, मांडणे माँडे जाते हैं। विवाह, पर्व और अन्य किसी भी उत्सव पर गोबर में हिरमच मिलाकर, खड़िया, मिट्टी, गेरू का प्रयोग किया जाता है। घर के आंगन, दीवारों पर सुंदर मांडणे माँडे जाते हैं। त्योहारों पर पाँच फूल, सात फूल, चौपड़, फूलझड़ी तथा दीवार पर बनाए जाने वाले मांडणे के अंतर्गत संपूर्ण लोक जैसे उद्घाटित हो जाता है। लोकाख्यानों पर मांडणों का संसार भी गाँव-गुवाड़ों में निरंतर जगमगाता है। मकर संक्रांति पर सूरज का रथ तथा फीण्याँ माँडी जाती है। होली पर खाँडा, चंग, ढोलक आदि तथा गणगौर आदि पर गुणा माँडा जाता है।

इसी तरह राजस्थान में आदिवासी कलाओं का अपना संसार है। राजस्थान के डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, सिरोही, उदयपुर आदि जनजातीय क्षेत्रों में भील, मीणा, गरसिया, सहरिया आदि आदिवासी कलाकारों द्वारा देवी-देवताओं की चमत्कारी शक्ति को दर्शाने का ही जतन नहीं है, बल्कि प्रतीक चिह्नों में जीवनानुभूतियों के साथ संसार की उत्पत्ति, सृष्टि के रहस्यों का भी अद्भुत लोक प्रकट होता दिखता है। इसके अलावा वन्य जीव-जंतुओं, पक्षियों आदि के चित्रों की रेखाएँ और उनकी सहज बनावट ऐसी है कि मन करता है, लोक कलाकारों के चित्र देखें और बस देखते ही रहें। आदिवासी लोक कलाएँ रेखाओं की सुंदर परिणति है। प्रायः खड़ी रेखाओं की बजाय घुमावदार रेखाओं का प्रयोग कलाकार करते हैं। आकारों की सरलता व प्रतीकात्मकता में सफेद, काले, भूरे, पीले, कत्थई रंगों का प्रयोग होता है।

भीलवाड़ा के पड़ कलाकारों के जोशी परिवार की लोक कलाएँ सुदूर देशों तक पहुँची हैं। पड़ असल में लोक देवता पाबू जी एवं देवनारायण जी के भोपों की कला है। भोपे पड़ चित्रावली के चित्रों में निहित कहानियों को सुनाते हुए एक-एक चित्र की कहानी बाँचते हैं और रात-रात भर नाच-गाकर श्रद्धालु भक्तों की मनौती पूरी करते हैं। यह कितना महती है कि पड़ दृश्य कला है, परंतु बेहद मधुर स्वरों में गाई भी जाती है। मूलतः राजस्थान के भीलवाड़ा जिले का पूरा एक गाँव पड़ कलाकारों का ही है। पड़ शैली के चित्रों में बारहमासा तथा रागमाला के चित्रों की भरमार है तो पद्मिनी के सौंदर्य की गाथा भी उकेरकर गाई जाती है। महाराणा प्रताप, हल्दीघाटी के शौर्य की गाथाएँ पड़ बाँचते हैं तो ढोला-मारू, पृथ्वीराज जैसे राजस्थानी लोकाख्यानों पर भी पड़-चित्रांकन करने वाले कलाकारों ने सुदूर देशों में अपनी कला के जरिए विशिष्ट पहचान बनाई है।

पड़ में ऐतिहासिक, लोक गाथाओं के साथ ही पौराणिक और लोगों में प्रचलित चरित्रों की गाथाओं का चित्रण होता है तो इन्हें बाँचकर सुनाया भी जाता है। माने संगीत और चित्रकला का मेल कहीं है तो वह राजस्थान की पड़ में है। पर लोक का आलोक देखें कि एक पड़ ऐसी भी है जो बाँची नहीं जाती, पर चोर उसे अपने पास रखते हैं। कहते हैं वे जब चोरी करने निकलते हैं तो उसकी पूजा करते हैं।

विशेष रूप से राजस्थान के बावरी व वागरी लोगों के पास यह चोर पड़ होती है।

लोक देवताओं के गाए व्याख्यानों का चित्रण पटों के माध्यम से करने की परंपरा के कारण ही इस कला को 'पड़' कहा जाता है। लोक देवताओं की पड़ें जिन पर भोपें गायकी करते हैं, मूलतः दो प्रकार की बनती है। पाबू जी की पड़ और देवनारायण (बगड़ावत) की पड़। पाबू जी पड़ को भोपा व भोपण रावण हत्था के साथ गाते हैं। मगर देवनारायण की पड़ को केवल भोपा जंत्र-मंत्र के द्वारा गाता है। इनके अलावा माता जी का चन्दवा, रामदला (रामायण) व कृष्ण दला (महाभारत) कृष्ण का जीवन चरित्र भी होता है।

इसी तरह काष्ठ कला के रूप में राजस्थान के लोक का आलोक कावड़ कला भी है। असल में कावड़ लकड़ी के कपाटों से बना मंदिर होता है। कावड़ बनाने में नीम वृक्ष की लकड़ी का उपयोग किया जाता है। इसे बनाने में मूलतः लाल और पीले रंग का उपयोग किया जाता था। इसके हर कपाट पर भाँति-भाँति के चित्र बनाए जाते हैं। चित्रों के विषय प्रायः पौराणिक होते हैं। कावड़ दरअसल पौराणिक कथा प्रस्तुति की ही अनूठी शैली है। लकड़ी के मंदिर के एक नहीं अनेक कपाट कावड़ कलाकार बनाते हैं और इन कपाटों में परत-दर-परत कथाओं का आकाश खुलता चला जाता है। काष्ठ के मंदिरनुमा बक्से के किवाड़ असल में तीर्थ रूप में भगवान की कथाओं को अपने अंदर चित्ररूप में समाहित किए होते हैं। रामायण, महाभारत, लोक कथाओं, संत-महापुरुषों की गाथाओं के चित्रण का एक तरह से कावड़ काष्ठ का चलता-फिरता देवस्थान ही होता है। कई स्थानों पर कावड़ के अंतर्गत वंशावलियों समेत पारिवारिक गाथाओं को दर्शाने का कार्य भी कलाकारों ने किया है। कावड़ में लकड़ी के कब्जेदार किवाड़ होते हैं और उन पर कथाओं का चित्रण होता है। कावड़ बाँचने वाले कथाकार किवाड़-दर-किवाड़ खोलते हुए वहाँ चित्रित कथा का वाचन करते हैं। एक-एक कर जब सब किवाड़ खुलते हैं तब इस देवस्थान रूपी कावड़ का गर्भगृह प्रकट होता है। यहाँ मूल पीठासीन देव चित्रित होते हैं।

लोक में कितनी गहराई है, इसे कावड़ कला से बेहतर और कैसे समझा जा सकता है! सामान्य तौर पर कावड़ में कलाकार किवाड़ों के चित्रों में कथाओं को हमारे समक्ष रखता है और जब सारे किवाड़ खुल जाते हैं तो गर्भगृह रूप में देव के दर्शन का अर्थ है, बाह्य जगत से अंतर की यात्रा। मुझे लगता है, राजस्थान की यह लोक कला ऐसी है जिसमें जीवन के मर्म को गहरे से समझा जा सकता है। कावड़ के मुख्य कलाकार राजस्थान के चित्तौड़-कोटा मार्ग पर स्थित बस्सी गाँव के निवासी हैं। यहाँ के निवासी कावड़ कलाकार स्वयं को देवलोक के वास्तुशिल्पकार विश्वकर्मा के वंशज मानते हैं। कावड़िया भट कावड़ रूपी देवस्थान को यजमानों अथवा ग्राहकों के घर ले जाते हैं। यजमानों को कथाएँ सुनाकर दक्षिणा ग्रहण करते हैं। यही असल में कावड़ बाँचना है।

नाथद्वारा के पास मोलेला गाँव मिट्टी की कलाकृतियों, खिलौनों और भित्तिचित्रों की मनोहारी लोक कला है। मोलेला के कुम्हार मिट्टी से लोक देवी-देवताओं के साथ ही पौराणिक आख्यान आधारित मूर्तियों का संसार सिरजते अपने देवरों में स्थापित करते हैं। मोलेला के मिट्टी के घोड़े भी सुदूर देशों तक पहुँचते हैं। इनकी पूजा आदिवासी भील, गरसियों द्वारा की जाती है। गाँव वालों की मान्यता पूरी होने पर घोड़े चढ़ाए जाते हैं।

बीकानेर की मथेरण लोक चित्रण शैली कभी बेहद लोकप्रिय थी, पर अब यह अतीत होती जा रही है। बीकानेर के ग्रंथागारों और प्राचीन मिली पांडुलिपियों के संग्रहों में मथेन, मथेरण अथवा महात्मा उपनाम संबोधनों से रचित बहुत से ग्रंथों में इस लोक चित्रशैली के बेहतरीन चितराम हैं। बीकानेर में चित्रांकन परंपरा का प्रारंभ मथेरणों

द्वारा ही किया गया था। विक्रमी संवत् 1754 की 'बीकानेर गजल' नामक काव्य रचना, जोकि मथेन उदयचंद खर्तगच्छीय की कृति है, में चिंतामणि जैन मंदिर के पार्श्व में उल्लिखित 'मथेरणों की गली' से यह प्रमाण भी मिलता है कि बीकानेर नगर की स्थापना के 200 वर्षों के अंतराल में ही नगर में एक मोहल्ले के रूप में मथेरण कलाकारों की पहचान स्थापित हो गई थी।

मथेरण कला में लाल, नीला, पीला और सफेद रंग पेवड़ी, नील, रामरज और सफेद मिट्टी आदि खनिज रूप में ही प्रयोग में लिए जाते रहे हैं। इसके अलावा सोना, चाँदी, राँगा, जस्ता तथा भूमि से प्राप्त अन्यान्य रंगों का निर्माण भी घोटाई-पिसाई से होता। हरा भाटा, पीला पत्थर और हिंगलू पत्थर भी प्रयोग में लाए जाते हैं तथा काले रंग के लिए काजल का इस्तेमाल मथेरण कलाकार करते हैं। असल में मथेरण धर्मप्रधान कला रही है। जैन और हिंदू देव विषयों के चित्र इस कला के अंतर्गत बहुत से स्तरों पर सृजित हुए। जैन विषयों में तीर्थंकर चित्रावली, जैन धार्मिक प्रेरक कथाओं के चित्रण और कहीं-कहीं तीर्थ यात्रा के प्रसंग भी मथेरण कला में मिलते हैं। कल्पसूत्र और पट्ट चित्रण तथा विज्ञप्ति पत्र रूप में विषयवार मथेरण चित्रण हुआ। बीकानेर के कवि भक्त पृथ्वीराज राठौड़ रचित 'वेलि क्रिस्न रूकमणि री' भी मथेरणों द्वारा चित्रित की गई थी। वैष्णव मंदिरों में बनी चित्रावलियों में दशावतार, कृष्णलीला और राम कथा से संबंधित चित्र विशेष हैं।

मथेरण कला की बड़ी विशेषता यह भी रही है कि इसमें 'बादल, बिजली और बरसात' मिथक में सर्वत्र प्रयोग किए गए हैं। इसके अलावा तांत्रिक चित्रण और मैथुन-युग्म चित्रावलियाँ भी मथेरण में बहुतायत से मिली हैं। बीकानेर की यह लोक कला बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा पाटी पोखण से भी जुड़ी रही है। पाटी पोखण यानी स्लेट पर रिद्धि-सिद्धि सहित श्रीगणेश व हंसवाहिनी माँ सरस्वती का अंकन। यह कार्य मथेरण करते थे। यही नहीं शादी-विवाह पर गणेश स्थापना, पिंडदान के लिए 'गंगा जी के पगलिया' आदि के साथ ही भित्तिचित्रों पर बादली, मोर, बैल आदि के साथ ही मांडणों के जरिए उत्सवधर्मिता की अभिव्यक्ति भी मथेरण कला में बहुतायत से हुई। लोक चित्र शैली की इस परंपरा में पुरानी हवेलियों, मंदिरों आदि में उकेरे चित्र भी बेहद महत्वपूर्ण हैं। मथेरणों द्वारा जीविकोपार्जन के लिए प्रारंभ इस लोक कला परंपरा में चित्रों के भेद भी खूब मिलते हैं।

बहरहाल, राजस्थानी लोक कलाओं के संसार में जब भी मन प्रवेश करता है, लगता है रेखाओं की लय हमसे अर्थगर्भित संवाद कर रही है। सहज, सरल आकृतियाँ, अबोधपन लिए। पर गौर करेंगे तो पाएँगे, वहाँ कहन का मर्म है। आदिवासी-जनजातीय और ग्रामीण लोक कलाओं की परंपरा में जाएँगे तो यह भी पाएँगे वहाँ उत्कट बिंब, भावों का विरल भव है। वासुदेवशरण अग्रवाल लिखा औचक स्मरण हो आता है, 'जो शास्त्र लोक के साथ नहीं जुड़ा, वह बुद्धि का छलावा है।'

लोक से ही हम हैं, पर यह विडंबना है कि आधुनिकता की आँधी लोक से जुड़ी हमारी विरल परंपराओं को तेजी से लील रही है। वैश्वीकरण ने संस्कृति की हमारी विविधता को डसना प्रारंभ कर दिया है। इसी से सामूहिकता का ह्रास हो गया है। विशेषीकरण ने लोक कला के प्रकार्यों को ही बदल दिया है। इसी से नई पीढ़ी में सौंदर्यबोध और इतिहास बोध निरंतर गौण हो रहा है। ऐसे दौर में जब सब ओर एकरसता है, लोक कलाओं से ही संस्कृति की हमारी सनातन परंपरा से हम जुड़े रह सकते हैं।

मुझे तो निरंतर यह लगता है कि लोक है तो आलोक है। कुछ ऐसा जो हमें अपनी जड़ों से जोड़े रख सकता है। साहित्य प्रत्यक्ष दृश्य नहीं है, परंतु लोक कलाओं में हम इतिहास को बाँच सकते हैं। परंपराओं को जान सकते हैं। भारतीय जीवन दर्शन की समझ का संकेत कहीं है तो वह हमारी लोक कलाओं में ही है।

विश्व प्रसिद्ध काँगड़ा कलम

'काँगड़ा कलम' विश्व प्रसिद्ध कलम है। इस कलम के चित्र भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। कला समीक्षकों ने इसे 'काँगड़ा कलम' के नाम से संबोधित किया क्योंकि काँगड़ा की सुरम्य घाटियों में यह पल्लवित-पुष्पित हुई। काँगड़ा कलम की आकृतियाँ, उनका शारीरिक अनुपात, उनकी कमनीयता, कामेलता, रंग संयोजन सब लाजवाब हैं। ये कमनीय आकृतियाँ बात करती प्रतीत होती हैं, हाथ लगाने से मैली होती हैं।

इस कलम की अधिकांश व्याख्या अंग्रेजी में हुई है। आर्चर, कुमार स्वामी, जे.सी. फ्रेंच, कार्ल खंडालवाला, बी.एन. गोस्वामी, एबार्ड फिशर, एम.एस. रंधावा से लेकर विश्वचंद्र ओहरी तक इस कलम के जानकारों ने अंग्रेजी में महँगी पुस्तकें लिखीं और इस कला को 'मिनिएचर पेंटिंग' नाम दिया। हिंदी में इन्हें लघुचित्र कहा जाने लगा, हालाँकि यह इसका सही अनुवाद नहीं है। लघु का अर्थ सामान्य से कम ऊँचा, छोटा, बहुत मामूली या तुच्छ भी हो सकता है। मगर यह कला छोटी नहीं है। आकार में छोटा होना इसकी विशेषता है। इस कलम के छोटे-छोटे चित्रों में पत्ते का एक-एक रेशा, सिर का एक-एक बाल देखने के लिए आवर्धक लेंस (मैग्नीफाइंग ग्लास) की जरूरत पड़ती है। कलाकारों ने चित्रों के छोटे आकार को नहीं छोड़ा और बारीक से बारीक चित्र बनाकर अपने कला कौशल का परिचय दिया।

सुदर्शन वशिष्ठ

जन्म : 24 सितंबर, 1949, पालमपुर (हिमाचल)।

संप्रति : पूर्व उपाध्यक्ष/सचिव हिमाचल अकादमी तथा उप निदेशक संस्कृति विभाग।

संपादन एवं प्रकाशन : 125 से अधिक पुस्तकों का संपादन/लेखन। हिमाचल की संस्कृति पर विशेष लेखन में 'हिमालय गाथा' नाम से सात खंडों में पुस्तक शृंखला के अतिरिक्त संस्कृति व यात्रा पर 20 पुस्तकों के अलावा पाँच ई-बुक्स प्रकाशित।

पुरस्कार : 'व्यंग्य यात्रा सम्मान' सहित कई स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत। अमर उजाला गौरव सम्मान, हिंदी साहित्य के लिए हिमाचल अकादमी के सर्वोच्च सम्मान 'शिखर सम्मान' से 2017 में सम्मानित।

संपर्क : मोबाइल– 9418085595

ई-मेल : vashishthasudarshan@gmail.com

जम्मू के बसोहली से आरंभ हो यह कला हिमाचल प्रदेश में फैली। हिमाचल प्रदेश के पुरातन राज्यों के नाम पर इस कलम को 'गुलेर कलम', 'काँगड़ा कलम', 'नूरपुर कलम', 'मंडी कलम', 'कुल्लू कलम', 'बिलासपुर कलम' नाम दिए गए।

मुगल बादशाहों की कला व वास्तुकला में रुचि ने चित्रकला जैसी उत्कृष्ट और महीन कला को जन्म दिया। मुगल काल में दिल्ली भारत की कला व संस्कृति का केंद्र बनी। बाबर में जहाँ साहित्यिक अभिरुचि थी, वहीं अकबर में मुस्लिम रूढ़िवादिता से ऊपर उठकर कलाओं को संरक्षण दिया। वास्तव में मुगल कलम का जन्म अकबर के कला प्रेम व संरक्षण के कारण ही हुआ। जहाँगीर (1605-1626) ने भी संरक्षण देना जारी रखा और कला की ओर अनुरागी रहा। शाहजहाँ (1626-1658) यद्यपि वास्तुकला की ओर समर्पित रहा तथापि चित्रकला को भी कम महत्व नहीं दिया। शाहजहाँ के पुत्रों में दारा शिकोह कला अनुरागी था। औरंगजेब यद्यपि कट्टर मुस्लिम था, वर्षों से चली आ रही कला उस काल में भी किसी-न-किसी रूप में जीवित रही। इस समय तक हिंदू कलाकार भी मुगल शैली की चित्रकला में पारंगत को गए थे और यह एक से दूसरे राज्य में प्रसारित होती रही।

एक यूरोपीय यात्री फिंच ने लाहौर किले के भित्तिचित्रों में जहाँगीर के साथ खड़े राजसी व्यक्तियों में नूरपुर के राजा वासुदेव (1580-1613) का एक चित्र देखा। संभवतः ऐसे चित्र जो मुगल दरबार से बनाए जाते थे, पहाड़ी राजाओं द्वारा अपने राज्य में वापसी पर लाए जाते होंगे। इस तरह से मुगल दरबार की कला के साथ पहाड़ी रियासतों की कला का तालमेल समय के अंतराल के साथ बैठता गया।

नूरपुर के राजा वासुदेव ने मेवाड़ के राजा के साथ युद्ध में मुगल सेनाओं का

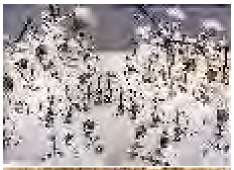

प्रतिनिधित्व किया। अतः वासुदेव राजस्थान की संस्कृति तथा वहाँ के कलाकारों के संपर्क में आया। वासुदेव कृष्णभक्त राजा था। कहा जाता है, उसने राजस्थानी शिल्पकार नूरपुर बुलाए और उनसे नूरपुर किले में मंदिर बनवाया। यह कृष्ण मंदिर राजस्थानी शिल्पियों द्वारा बनाया गया। यद्यपि वासुदेव के शासनकाल में किसी कला शिल्पगृह की पुष्टि नहीं होती।

कार्ल खंडालवाला के अनुसार, राजस्थान में इस शिल्प का आरंभ 1605 में मुगल दरबार की प्रेरणा से हुआ। पहाड़ी कलम के मुख्य केंद्र रावी नदी के किनारे बसोहली, बसोहली के पूर्व में जसरोटा, मानकोट, जम्मू, चंबा, काँगड़ा में नूरपुर, हरिपुर, गुलेर, सुजानपुर, टिहरा, आलमपुर, नादौन तथा मंडी, सुलतानपुर व शाँगरी (कुल्लू) बिलासपुर और अर्की हैं। सीब्बा, नालागढ़, नाहन, जुब्बल, दतारपुर आदि में पहाड़ी कलम गौण रूप में रही।

पहाड़ी कलम का शिल्पगृह 1678 में राजा किरपाल सिंह के सिंहासनारूढ़ होने पर ही बना। इससे पूर्व पहाड़ी राजाओं में कोई शिल्पगृह नहीं था। बसोहली में राजा संग्रामसिंह पाल (1635-1673) के समय किसी दरबारी शिल्पगृह की पुष्टि नहीं होती है, किंतु संग्रामसिंह पाल के शासनकाल के अंतिम दिनों में प्रसिद्ध तांत्रिक चित्रमाला, नायिका-भेद तथा रसमंजरी चित्रमाला मिलती है जो इस समय बोस्टन संग्रहालय, विक्टोरिया तथा अल्बर्ट संग्रहालय श्रीनगर में है। ये सभी कलाकृतियाँ लगभग एक ही समय की हैं।

कला समीक्षकों के अनुसार, पहाड़ी कलम के किसी भी पहाड़ी दरबार में विधिवत शिल्पकला का अस्तित्व राजा किरपाल सिंह के समय ही बना। जब किरपाल सिंह ने शासन सँभाला उस समय मेवाड़ के राजा राजसिंह (1650) का राज्य था। राजा राजसिंह भी सचित्र पांडुलिपियों का बड़ा अनुरागी था।

कार्ल खंडालवाला के अनुसार, बसोहली कलम 1740 तक एक मानक कला के रूप में प्रतिष्ठित रही। बसोहली कलम में भागवत चित्रमाला (1750) व रामायण चित्रमाला (1752) प्रसिद्ध हैं। इन दोनों चित्रमालाओं का समय दो दशकों के भीतर ही माना जाता है।

गुलेर को विद्वानों ने उन पहाड़ी राज्यों में माना है जिन्होंने मुस्लिम कलम का अनुकरण किया। गुलेर ही 'काँगड़ा कलम का जनक' माना जाता है। यहीं प्रसिद्ध चित्रकार पंडित सेउ मुसब्बर तथा उसके परिजन वंशज हुए, जिन्होंने पहाड़ी रियासतों में पहाड़ी कलम में कीर्तिमान स्थापित किए। काँगड़ा कलम में गुलेर की भूमिका के विषय में आर्चर ने कहा है—"पहाड़ी कलम के विकास की दिशा में गुलेर राज्य ने निर्णायक भूमिका अदा की। यहाँ न केवल अति कोमल और आकर्षक स्थानीय कला का विकास हुआ, बल्कि लगभग 1780 में गुलेर शैली का अंतिम सोपान काँगड़ा में गया, जो अपने आप में काँगड़ा शैली बना। गुलेर शैली केवल पहाड़ी काम के 38 छोटे केंद्रों में से एक ही नहीं है, यह पंजाब हिल्ज में सभी महान शैलियों का मूल और जननी है।"

गुलेर राज्य की स्थापना काँगड़ा के राजा हरिसिंह द्वारा 1405 में की गई। राजा हरिसिंह के शिकार पर जाने और खो जाने के बाद काँगड़ा का राजा उसका छोटा भाई बना दिया गया। एक व्यापारी द्वारा राजा को कुएँ से निकालने के बाद हरिसिंह ने काँगड़ा जाना उचित नहीं समझा और गुलेर में राज्य स्थापित किया।

गुलेर के राजाओं का दिल्ली दरबार में आना-जाना होता रहा, अतः मुगल कलम ने गुलेर तक की यात्रा की। कार्ल खंडालवाला के अनुसार, राजा राजसिंह (1675-1695) के समय तक कोई चित्र नहीं मिलता। राजा राजसिंह तथा उसके पिता राजा रूपचंद का पोर्ट्रेट (1695) राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में मिलता है। आरंभ में यह कला पोर्ट्रेट बनाने तक ही सीमित थी। डॉ. एम. एस. रंधावा ने माना है कि राजा दलीपसिंह (1695-1743) के समय राजदरबार में कलाकार महत्वपूर्ण काम कर रहे थे। 'दलीप रंजनी' (1707) में इसकी उपस्थिति का आभास होता है। लगभग 1777 के काल के दलीपसिंह के मुगल तथा गुलेर की मिश्रित शैली से पोर्ट्रेट मिलते हैं। राजा दलीपसिंह के पुत्र बिशनसिंह की मृत्यु के बाद उसका भाई गोवर्धनचंद गुलेर का शासक बना। वह कला का संरक्षक था। गोवर्धनचंद का विवाह बसोहली की राजकुमारी से हुआ, जिससे दोनों राज्यों के कलाकारों का आवागमन हुआ। गोवर्धनचंद के बाद प्रकाशचंद (1773-1790) के शासनकाल में भी यह संरक्षण जारी रहा।

गुलेर कलम की प्रारंभिक कृतियाँ पंडित सेउ मुसब्बर तथा उसके पुत्रों—मानक तथा नैनसुख द्वारा बनाई गईं। नैनसुख ने जम्मू के बलवंत देव के यहाँ भी कार्य किया। मानक ने गुलेर और बसोहली दोनों स्थानों में काम किया।

गुलेर को काँगड़ा कलम के विकास का प्रथम चरण माना जाता है। गुलेर राज्य के कलाकारों के चंबा, सुजानपुर टीहरा में जाने से दूसरा चरण आरंभ हुआ।

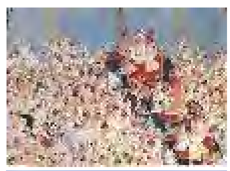

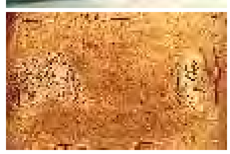

पंडित सेउ मुसब्बर परिवार

कार्ल खंडालवाला ने एन.सी. मेहता संग्रह में पहाड़ी मिनिएचर पेंटिंग्स का विवेचन करते हुए पंडित सेउ मुसब्बर के परिवार के कलाकारों पर प्रकाश डाला है। पंडित सेउ के दो पुत्र थे—मानक और नैनसुख। मानक का पुत्र कुशाला या खुशाला था। नैनसुख के कामा, गोधू निक्का तथा रामलाल (या राँझा) हुए। पंडित सेउ का

कोई पोर्ट्रेट नहीं मिलता। केवल एक छोटा स्केच पोर्ट्रेट चंडीगढ़ संग्रहालय में है जिस पर सेउ अंकित है। नैनसुख का पोर्ट्रेट कभी डीलरों के माध्यम से लाहौर संग्रहालय में पहुँचा था, जो अब वहाँ नहीं है। नैनसुख की दो पेंटिंग्स राष्ट्रीय संग्रहालय में हैं। इनमें से एक 'म्यूजिक पार्टी' है जो जसरोटा में 1748 में बनाई गई और दूसरी राजा बलवंतसिंह (जम्मू) की है। नैनसुख का संरक्षक जम्मू का राजा बलवंत सिंह (1743-1763) माना जाता है। पंडित सेउ के बड़े पुत्र मानक की दो पेंटिंग्स प्रमुख मानी जाती हैं। एक राजा संसारचंद के संरक्षण में थी, जो संभवतः दहेज स्वरूप टिहरी, गढ़वाल को दी गई। ऐसा भी मत है कि मानक राजा संसारचंद तथा प्रकाशचंद (गुलेर) के दरबार में रहा होगा। दूसरा चित्र 'हुक्का पीते हुए महिला' के पीछे फारसी में मानक लिखा हुआ है। गोवर्धनसिंह (1745-1773) के समय गुलेर दरबार के शिल्पगृह की यह कलाकृति अल्बर्ट संग्रहालय लंदन में है। 1736 में मानक गुलेर में रहता था।

कुशाला या खुशाला (मानक का पुत्र) राजा संसारचंद के दरबार में था। जे.सी. फ्रेंच ने लंबागाँव आने पर पाया कि राजा का मनपसंद कलाकार कुशनलाल है, जो संभवतः कुशाला ही था।

पंडित सेउ मुसब्बर परिवार के 'मियाँ गोपालसिंह चौस खेलते हुए', 'दरबार का दृश्य', 'राजा बिशनसिंह गुलेर' आदि चित्र चंडीगढ़ दिल्ली तथा लंदन संग्रहालयों में हैं।

काँगड़ा कलम और महाराजा संसारचंद

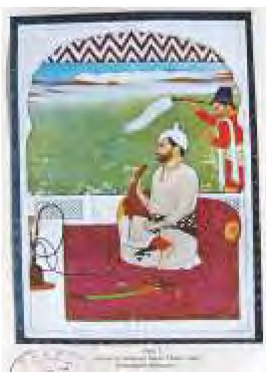

महाराजा संसारचंद जिन्होंने दस वर्ष की अल्प आयु में सिंहासन सँभाला और 21 वर्ष की आयु में प्रतिष्ठित काँगड़ा किला मुसलमानों से छुड़ा लिया। काँगड़ा कलम को भी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचाया। 1775 में सिंहासनारूढ़ होने के बाद लाहौर तक पहुँचने की कल्पना करने वाले संसारचंद ने कई उतार-चढ़ाव देखे। सिरमौर, मंडी, बिलासपुर को हराने के बाद अमरसिंह थापा के हाथों मोरियाँ में हार के बाद संसारचंद को रणजीत सिंह से

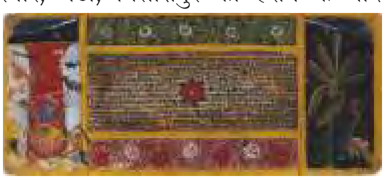

सहायता माँगनी पड़ी और पहाड़ों का गौरव काँगड़ा किला सदा के लिए रणजीत सिंह के अधीन हो गया।

सन् 1726 से 1805 का काल काँगड़ा के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जा सकता है। सुजानपुर टीहरा में शिल्पियों को प्रोत्साहन दिया गया। नादौन भी कला का केंद्र बना।

संसारचंद ने आलमपुर नादौन और सुजानपुर टीहरा में महल बनवाए। सुजानपुर टीहरा के भव्य स्वागत हॉल में 22 द्वार थे जिसमें 22 पहाड़ी राजा संसारचंद के प्रति सम्मान प्रकट करने आते थे। 1824 में गौरीशंकर का मंदिर बनाया गया। 1871 में मुरली मनोहर मंदिर बनवाया गया। 1824 में सुकेती रानी द्वारा प्रसिद्ध नर्मदेश्वर मंदिर बनाया गया जिसमें बनाए गए चित्र आज भी विद्यमान हैं।

चंबा की भरमौर कोठी की कुछ काष्ठ कलाकृतियाँ, जो पृथ्वीसिंह (1641-1664) के समय की हैं, मुगल प्रभाव लिए हुए हैं। राजा पृथ्वीसिंह शाहजहाँ के दरबार में जाता रहा और उसका पोर्ट्रेट सन् 1695 के लगभग का है। यह पोर्ट्रेट 'प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम' में मौजूद बताया जाता है। चंबा गजेटियर के अनुसार राजा छत्तरसिंह का विवाह बसोहली की राजकुमारी से हुआ।

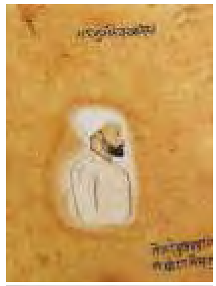

छत्तरसिंह के तीन भाइयों के पोर्ट्रेट मिलते हैं, किंतु दशावतार राधा कृष्ण आदि विषयों को लेकर चंबा में चित्र बसोहली कलम की प्रेरणा से बने। राजा धीरजपाल (1710-1721) के दरबार के कलाकार चंबा में थे। नूरपुर में राजा देवतत्व (1700-1735) के समय रसमंजरी चित्रमाला मिलती है जो 1715 और 1720 के बीच बनाई गई। नूरपुर कला का श्रेय देवीदास के पुत्र गोलू को जाता है जो नूरपुर का रहने वाला था।

कुल्लू में बसोहली के राजा धीरजपाल (1695-1735) के समय कुल्लू कलम का विकास हुआ। शांगरी में प्रसिद्ध शांगरी रामायण लगभग 1710 में बना। कुल्लू कलम पर भी बसोहली कलम का प्रभाव है।

काँगड़ा कलम के साथ यह दुर्भाग्य रहा है कि जब तक इस अमूल्य निधि के प्रति जागरूकता आई, तब तक यह काँगड़ा तो क्या देश से जा चुकी थी। कुछ तथाकथित कलाप्रेमियों द्वारा उत्कृष्ट कृतियाँ 'डीलरों' के माध्यम से विदेशों में पहुँचाई गईं। आज काँगड़ा कलम की कृतियाँ विदेशी संग्रहालयों में तो उपलब्ध हैं, पर देश में नदारद हैं।

अरुणाचल प्रदेश की गालो जनजाति के लोक गीत में स्त्री

अरुणाचल प्रदेश की गालो जनजाति अपनी रहन-सहन, स्थानीय स्वादिष्ट व्यंजन, मिलनसार व्यक्तित्व के लिए जानी जाती है। यह राज्य के सर्वाधिक शिक्षित वर्ग में गिनी जाती है। लिपि के अभाव में यह जनजाति अंग्रेजी की रोमन लिपि और हिंदी की देवनागरी लिपि आदि का प्रयोग कर अपने विचार आदि को सुविधानुसार व्यक्त करती रहती है। इस जनजाति की बोली 'गालो' ही है। अन्य जिलों की भाँति गालो समुदाय के लोग संपर्क भाषा के लिए हिंदी, असमिया, नेपाली आदि का प्रयोग करते हैं। हिंदी यहाँ आसानी से बोली और समझी जाती है जिसके कई कारण हो सकते हैं—भारत सरकार द्वारा हिंदी भाषा को दसवीं कक्षा तक अनिवार्य करना, शिक्षण के क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारी गण, भारतीय फौजियों के संपर्क में लोगों का

रहना, हिंदी भाषी क्षेत्र से आए दुकानदार, बिहारी-नेपाली मजदूर तथा अन्य सरकारी कर्मचारी लोगों के संपर्क में रहना आदि। लिपि के अभाव में गालो जनजाति का अपना कोई साहित्य नहीं है। कई साहित्यकारों एवं शोधकर्ताओं ने गालो समुदाय के लोक जीवन, संस्कृति, लोक कथाओं व लोक गीत आदि पर शोध कार्य एवं साहित्य की रचना की, जिनमें मुख्यतः हिंदी की देवनागरी लिपि का उपयोग किया गया है, कुछेक ने असमिया व रोमन में भी प्रयास किया है।

लोक गीत

गीत मनुष्य के दिनचर्या का अभिन्न अंग है। यह लोक साहित्य का एक ऐसा अंग है, जिसमें लोक जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य का इससे अटूट संबंध है। ये हमारे अपने गीत हैं। मनुष्य के जीवन से गीतों का जुड़ाव नया नहीं है। कई गीत तो ऐसे हैं जो मनुष्य के जीवन की कथा कहते हैं। वर्तमान समय में गीतों के कई रूप देखने को मिलते हैं, जैसे—पॉप सॉंग, जैज, आदि किंतु इन गीतों का स्रोत लोक गीत है। जनता अपने सरल एवं कोमल हृदय के साथ लोक गीतों को गाते हैं। लोक गीतों में लोग अपनी भावनाओं को मधुर वाणियों में प्रकट करते हैं। लोक गीत संपूर्ण समाज की संपत्ति बन जाता है। लोक गीतों का इतिहास बहुत पुराना है। ये गीत अन्य गीतों से अलग होते हैं। ये न तो लिपिबद्ध होते हैं और न ही उनके रचयिता का ही कुछ पता होता है। लिपिबद्ध नहीं होना इसकी अपनी खासियत है। लोक गीतों में कृत्रिमता कम और सरलता, स्वाभाविकता व सहजता अधिक मिलेगी। लोक गीत स्वतः ही मानव हृदय से स्फूर्त होकर कंठों में वास करते हैं। इन गीतों का सृजन छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र इत्यादि को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता है। ये गीत आज भी सुदूर गाँवों में बुजुर्गों के कंठों में सुरक्षित हैं। इन गीतों का मौलिक स्वरूप होता है। हालाँकि इन गीतों को शहरों में भी गाया जाता है, किंतु इन्हें ग्रामीण परिवेश के धरोहर के रूप में ही

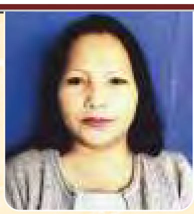

मोर्जुम लोयी

जन्म : काबू ग्राम, पश्चिमी सियाङ, अरुणाचल प्रदेश।

शिक्षा : एम.ए. (नेट)।

संप्रति : असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी, विभाग, बिन्नी याङा शासकीय महिला महाविद्यालय लेखी, अरुणाचल प्रदेश।

प्रकाशन : 'मिनाम' उपन्यास, मई 2020

संपर्क : मोबाइल— 9436235728

ई-मेल : morjum2010@gmail.com

स्वीकार किया गया है। इन गीतों में जो अर्थ हैं, जो भाव हैं, वे उनके श्रोता पर ऐसी छाप छोड़ते हैं कि श्रोता इन्हें बार-बार सुनना चाहता है।

गालो लोक गीत में स्त्री

लोक गीत को समय-समय पर परिवर्तित किया जा सकता है। इसे जरूरत के अनुसार व सुविधानुसार बदला भी जा सकता है तथा छोटा या बड़ा भी किया जा सकता। प्रत्येक गीत किसी-न-किसी कथा को व्यक्त करता है।

आन्ने यो आन्ना

स्त्री विषयक लोक गीतों में 'आन्ने यो आन्ना' सर्वाधिक गाया जाने वाली गीत है। इसे महिलाएँ खेतों पर काम करते, जंगलों में ईंधन के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी करते हुए गाती हैं। 'आने' यानी 'माँ'। इस गीत के माध्यम से स्त्रियाँ अपनी माँ को पुकारती हैं और अपना दर्द बयाँ करती हैं। वे कहती हैं कि काश मैं बेटी पैदा न हुई होती तो आज जिस घर-आंगन में बचपन में मैं खेली हूँ, उसे अपना कह पाती। पैत्रिक संपत्ति पर भी अपना अधिकार होता और न किसी अनजान जगह आकर यूँ बस जाती। इस प्रकार की कई बातें व प्रश्न वे इस गीत के माध्यम से कहती हैं और अन्य स्त्रियाँ समूह में पीछे-पीछे गाती हैं। कई बार यह गीत रुदन में बदल जाता है।

ञिदा काबेन

यह विवाह से संबंधित लोक गीत है। ञिदा काबेन विवाह के अवसर पर गाया जाता है। ञिदा काबेन में वधु की ओर से गाने वाली ञिबो उसे नए जीवन के लिए शुभकामनाएँ देते हुए, उसके रास्ते की हर बाधा को दूर करने की प्रार्थना भी करती है, उसे अच्छे भविष्य का, फलने-फूलने का आशीर्वाद भी दिया जाता है। साथ ही, यह भी बताया जाता है कि बेटी तो हमेशा पराया धन होता है, आञी कारपु-कारलु नाम की बहनों ने भी कोशिश की थी कि वे बेटा बनें, पर लाख कोशिशों के बावजूद भी यह संभव न हो सका। उसी प्रकार वर पक्ष के काबेन ञिबो भी वधु का स्वागत नए घर व नए जीवन में काबेन के माध्यम से करता है। दोनों पक्षों की काबेन में स्त्री की इतनी मार्मिक गाथाएँ वर्णित होती हैं कि समझने वाले श्रोता रो पड़ते हैं।

जायी ए बोने

इस लोक गीत में जायी बोने नाम की बेटी की कथा को मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि कैसे अत्यंत खूबसूरत जायी बोने, बिर तापु और दिदुकूब जैसे पुरुषों की नजरों से खुद को बचाने में नाकामयाब हो जाती है। किस प्रकार उसके माता-पिता ने दो पुरुषों द्वारा लाए गए मांस-मछलियों को खाकर बिर तापु जो कि नदियों में वास करते हैं, को बेहतर वर मानकर उसकी शादी उससे कर दी जाती है। माता-पिता ने जायी बोने से एक बार भी पूछना जरूरी नहीं समझा। बिर तापु ताजी मछलियाँ लाते थे, दिदुकूब द्वारा लाया गया जंगली मांस स्वादिष्ट तो था, किंतु दाँतों में फँसकर उन्हें दर्द पहुँचाता था। नाराज दिदुकूब ने कैसे जायी बोने और बिर तापु को जहर देकर मार दिया, यह बहुत मार्मिक अभिव्यक्ति है इस गीत के माध्यम से।

गालो लोक गीतों में स्त्री के अस्तित्व को खोजने का प्रयास किया गया है। गालो जनजाति के लोक गीतों के माध्यम से हम गालो स्त्री को समझ सकते हैं।

हिंदी भाषा व देवनागरी लिपि के संपर्क में आने के कई फायदे हैं। लिपि के अभाव में यहाँ का अपना कोई साहित्य विकसित नहीं हो पाया था। लोक कथा व लोक गीत आदि मौखिक रूप में ही विद्यमान थे और उसका लोप होने का खतरा था, पर अब कई शोधकर्ता, साहित्यकार इसे देवनागरी लिपि के माध्यम से सुरक्षित व संरक्षित कर रहे हैं। अगर स्नातक एवं स्नातकोत्तर के पाठ्यक्रम में अरुणाचल की जनजातियों, बल्कि पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के साहित्य विशेष रूप से लोक कथाएँ व लोक गीत आदि को सम्मिलित किया जाए तो हमारा साहित्य और समृद्ध व विकसित हो पाएगा तथा स्त्री विषयक विषयों को हम जान सकेंगे और साथ ही आवश्यक सुधार भी कर सकेंगे।

इस प्रकार हम देख सकते है कि हिंदी के संपर्क में आने से गालो जनजाति निस्संदेह ही समृद्ध, सुरक्षित और विकसित हो रही है। डॉ. धर्मराज सिंह, डॉ. दोगे डोम्दिर, श्रीमती मोर्जाक लोयी एते, श्री जुम्सी सिराम, डॉ. तेजुम पादु आदि की प्रेरणा से परवर्ती साहित्यकार हिंदी के माध्यम गालो साहित्य को और भी समृद्ध कर सकते हैं, तो यह हमारे लिए सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

सोहराय चित्रकला में प्रकृति का मर्म

मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुरूप आचार-विचार की संहति को ही 'संस्कृति' कहा जाता है। जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शांति प्राप्त करता है, वे चेष्टाएँ ही संस्कृति कही जा सकती हैं। संस्कृति वाकई में मानव जीवन के विविध पक्षों से संबद्ध एक सतत विकासमान प्रक्रिया है, जिसमें देश और जाति विशेष की परंपराओं का विशेष महत्व होता है। वस्तुतः किसी भी देश की संस्कृति उस देश के खान-पान, वेश-भूषा, आचार-विचार, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान, मान्यताओं-प्रवृत्तियों का सम्यक बोध कराती है। इसलिए बुद्धिजीवी किसी देश की संस्कृति पहचानने के लिए वहाँ के साहित्य, संगीत-नृत्य और चित्रकला-मूर्तिकला को जानने की सलाह देते हैं।

कविता विकास

संप्रति : लेखिका व शिक्षाविद्।

प्रकाशन : दो कविता संग्रह (लक्ष्य और कहीं कुछ रिक्त है) प्रकाशित। आठ साझा कविता और एक साझा गजल संग्रह प्रकाशित। विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं व लघु पत्रिकाओं में कविताएँ, कहानियाँ, लेख और विचार निरंतर प्रकाशित।

संपर्क : मोबाइल– 9431320288

ई-मेल : kavitavikas28@gmail.com

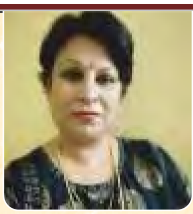

प्रत्येक कालखंड का साहित्य अपने समय के परिवेश और प्रकृति से बँधा होता है। परिवेश भले ही बदल जाए, पर मानवीय संवेदनाएँ जीवित रहती हैं, जिसे पीढ़ियाँ अपने साथ जीती हैं। यही साहित्य उस स्थान विशेष की संस्कृति का परिचय देता है। लोक संस्कृति किसी देश या राज्य की धड़कन होती है जो लोक राग में वास करती है। झारखंड का एक बहुत ही लोकप्रिय पर्व सोहराय है, जिससे जुड़े हुए पहलुओं पर एक नजर डालें तो हम पाएँगे कि आदिवासियों का जीवन यूँ ही नहीं जल, जीवन और जंगल से जुड़ा होता है। प्रकृति को भगवान मानने वाले सरल हृदयी आदिवासियों में धरती को पल्लवित करने वाले सारे तत्वों के प्रति कृतज्ञता होती है, जिसे वे पर्वों के माध्यम से मनाते हैं।

संपूर्ण भारत जब दीपावली का महापर्व मनाता है, उस समय विशाल झारखंड प्रदेश और उड़ीसा, बंगाल, छत्तीसगढ़ के कुछ आदिवासी बहुल जिले छह दिवसीय सोहराय पर्व के उल्लास में मग्न रहते हैं। इस छह दिवसीय पर्व में एक महीना पहले से ही किसान घर-आंगन, खेत-खलिहान आदि की साफ-सफाई में जुट जाते हैं। घर की दीवारों में मिट्टी का लेप चढ़ाकर कलात्मक तरीके से चित्रकारी की जाती है। यही चित्रकारी 'सोहराय चित्रकारी' कहलाती है जिसमें चावल के बुरादे, पत्ते तथा लाल-सफेद रंगों का प्रयोग होता है। मिट्टी के रंग का प्रयोग मुख्य है। कृत्रिम रंगों का प्रयोग वर्जित है।

पहला दिन, 'तेल ढेउआ' कहलाता है। इस दिन किसान अपने पशु धन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए उन्हें नहला-धुलाकर हरा चारा खिलाते हैं तथा सींगों पर तेल-सिंदूर लगाकर पूजा करते हैं।

दूसरा दिन, 'धाउआ' कहलाता है। इस दिन भी पशुओं को नहलाकर सजाते हैं, तथा

अगले दिन पिट्ठा बनाने के लिए चावल भिगाया जाता है जिसे फिर ढेकी में कूटा जाता है।

तीसरा दिन, 'गठ पूजा या अहिरा' कहलाता है जिस दिन हम दीपावली मनाते हैं। यह सोहराय का खास दिन होता है। सबके घरों

से ढेकी कूटने की आवाज आती है और लोग तरह-तरह का पिट्ठा बनाते हैं। गाँव के महतो, पाहन या लाया द्वारा गठ यानी जहाँ पशुओं को रखा जाता है, वहाँ पूजा की जाती है। गाँव के सारे पालतू पशुओं को उस पूजा-स्थल से पंक्तिबद्ध करके पार कराया जाता है और उनकी गिनती की जाती है। यह बहुत ही मनोरम दृश्य होता है।

पूजा-स्थल का प्रसाद जो पशु खा लेता है, उस पशु का मालिक महतो, पाहन या लाया को वस्त्र-दान करते हैं। जब सारे पशु अपने-अपने घर पहुँचते हैं, तब गोहाल के दरवाजे पर पत्ते में चावल का गुंडी और घी का पलीता जलाया जाता है। इसे 'काँची-दियारा' कहते हैं। शाम होते ही लोग टोली बनाकर ढोल, माँदर और शहनाई लेकर बजाते हुए, गीत गाते हुए एक-दूसरे के घर जाते हैं जिसे 'जाहली या अहिरा गीत' कहते हैं। इस गीत के भाव में महामाया एवं गौमाता का गुणगान होता है। गृहस्वामी हरेक टोली को पिट्ठा खिलाते हैं और पैसे देकर विदा करते हैं। रात को जागरण किया जाता है और गोहाल में घी का दीया जलता रहता है।

चौथा दिन, गरइया पूजा या गोहाल पूजा के दिन घर-आंगन की पुताई करके हल, कुदाली और अन्य कृषि उपकरण को धोकर लाया जाता है तथा तुलसी के चौबारे के पास रखा जाता है। नए वस्त्रों में स्त्रियाँ इनकी पूजा करती हैं। इस दिन का विशेष आकर्षण चावल की गुंडी और पत्तों के लार से बनाई जाने वाली अल्पना है। इस अल्पना का प्रकार अलग-अलग होता है। दरवाजे पर धान की बाली और लक्ष्मी-प्रतीक बनाई जाती है जिसे 'मारोड' कहते हैं तथा साल भर दीया जलाया जाता है।

पाँचवाँ दिन, बरद खूँटा। इस दिन किसान मांस-भात खाने के बाद पान खाते हैं। अल्पना बनाई जाती है जिसमें चावल की गुंडी का इस्तेमाल होता है। गाँव में जगह-जगह पर खूँटे से बैलों को बाँधकर ढोल-नगाड़े के साथ अहिरा गीत के सुर में बैलों को नचाया जाता है।

छठा दिन, गुड़ीबाँदना यानी बूढ़ीबाँदना। पशुओं की वंदना करने के कारण इसे 'बाँदना' कहते हैं। भैंसों को खूँटे से बाँधकर इस दिन मांसाहारी भोजन करने की प्रथा है।

झारखंड के कलात्मक स्वरूप का आकार तय करने में सोहराय कला के योगदान को नकारना संभव नहीं है। हजारों वर्ष पुरानी मानी जाने वाली यह कला प्रायः विलुप्त होने के कगार पर थी, पर कुछ गैर-सरकारी संस्थानों के प्रयास और स्थानीय आदिवासियों की मेहनत से इस कला को पुनर्स्थापित किया गया है। गुमला जिले के सिसई के पास नवरत्नगढ़ के नागवंशी राजा के महल में इस कला के अवशेष प्राप्त हुए हैं। हजारीबाग स्थित बादम क्षेत्र की गुफाओं से इस कला के प्रारंभिक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इनमें चित्रकारी के साथ-साथ लिपि का भी प्रयोग होता था, जिसे 'वृद्धि मंत्र' कहा जाता है। यहीं से धीरे-धीरे यह कला समाज में पहुँची।

इस कला की सबसे बड़ी विशेषता इसकी सकारात्मक गतिविधियाँ हैं। इस कला में संपूर्ण चित्र का अंकन एक ही बार किया जाता है। तदुपरांत चित्रकार अपनी कल्पना के अनुरूप रंग भरता है। इसके चित्र प्रकृति एवं मानव के बीच सामंजस्य के अद्भुत अनुभव के जीवंत प्रमाण हैं क्योंकि इस कला का मूल विषय ही प्रकृति है। इस कला के कुछ उल्लेखनीय कलाकारों के नाम इस प्रकार हैं—जयश्री इंदवार, अवनि भूषण, ज्योति पन्ना, बुलु इमाम आदि।

लोक की सृजनात्मकता में जो बहुलता है, उसमें एक मुख्य स्थान सोहराय कला का है। झारखंड की लोक कथाओं में जब पेड़ बोलते हैं, पहाड़ नाचते हैं और धरती गमन करती है तो इनका कोई-न-कोई सूत्र सोहराय से भी जुड़ा रहता है। जब तक प्रकृति के विभिन्न रूपों को मानव चेतना स्वीकार करता रहेगा, सोहराय कला भी जीवित रहेगी। लोक संस्कृति जीवन में आस्था, गति, पहचान, शक्ति और नैतिकता का पोषण करती है। इनमें जीवन दर्शन और परमात्मा की शक्ति भी दिखाई जाती है। इन्हें जीवित रखने के लिए और इनके मर्म को आत्मसात करने में हर नागरिक का योगदान जरूरी है।

कुमाऊँ की लोक कला

एपण

कुमाऊँ अपने सौंदर्य रीति-रिवाजों और लोक कलाओं के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कुमाऊँ लोक कला पर अगर हम दृष्टिपात करते हैं तो अधिकांशतः लोक कलाएँ हमें धार्मिक भावना और प्रकृति प्रेम से ओत-प्रोत दिखाई देती हैं। इसकी पृष्ठभूमि में धार्मिक भावना तो रहती ही है। साथ ही, सौंदर्य और कलात्मकता का अंश भी रहता है, पर कलात्मकता की भावना धार्मिक संस्कारों का आभूषण मात्र होती है और आत्मा में धार्मिक संस्कार ही प्रधान होते हैं। मानव की मानसिक पिपासा को शांत करने का एक सशक्त माध्यम लोक कला रही है। जहाँ कला सभ्यता के विकास के साथ-साथ विकसित होती है वहीं लोक कला परंपरा से जुड़ी संस्कृति का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, और परंपराओं तथा अनुष्ठानों से पोषित होती है। आदिम काल

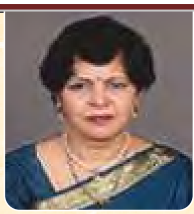

डॉ. करुणा पांडे

शिक्षा : एम.ए., एम.एड., पीएच.डी.।

संप्रति : सेवानिवृत्त शिक्षिका।

संपादन एवं कृतियाँ : अभिनव संग्रह, रामचरितमानस और रघुवंश, यथार्थ की चादर जैसी कई कृतियाँ प्रकाशित, बाल साहित्य लेखन।

सम्मान : साहित्य गौरव सम्मान

संपर्क : मोबाइल– 9897501069

ईमेल– karunapande15@gmail.com

से ही आदि मानव आड़ी-तिरछी लाइनें खींचकर अपने मन के भावों को व्यक्त करता रहा है। मन के ये भाव जब पूर्ण उन्मुक्तता के साथ अभिव्यक्त हुए तो ये लोक कला के अंग बन गए और वैचारिकता का तत्व इसमें समा गया। इस तरह प्राचीन काल से ही मानव मनोरंजन के साधन जुटाता रहा है।

हमारी संस्कृति और आस्थाओं की आत्मा है यह कला, जो अणु-अणु में रचे-बसे आध्यात्मिक और धार्मिक तत्वों से भरपूर है। कितना सरल और सादगी से युक्त है यहाँ का जीवन, कोई आडंबर नहीं, कोई बनावटीपन नहीं। केवल कुमाऊँ की ही क्यों, सभी क्षेत्रों की लोक कलाओं की आत्मा एक ही तो है। हाँ, उसके रूप और प्रस्तुतिकरण के तरीके अलग-अलग हैं। लोक कला के रूप में हमें त्योहारों (अहोई अष्टमी, कृष्ण जन्माष्टमी, वट-सावित्री आदि) के चित्रों का उद्गम हम नहीं जान पाए, पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनको आत्मसात किए हुए हैं। यह है लोक मानस की सहजता। यह चित्र भौगोलिक स्थानों के बदलने पर अलग-अलग तरह से अंकित हुए हैं, लेकिन कम या ज्यादा, उसमें जो भी उपमान प्रयुक्त हुए हैं, उनके रूप अलग हैं, पर आत्मा और विश्वास एक ही है। आज हम भौतिकता की आँधी में अपनी संस्कृति को भूलते जा रहे हैं और आस्थाओं, विश्वासों तथा लोक मर्म को छोड़ते जा रहे हैं। यद्यपि समय के साथ संस्कृति व रीति-रिवाजों में कुछ अंतर आता है, क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य है। पर अपनी मूल संस्कृति से जुड़े रहना हर व्यक्ति का धर्म है क्योंकि संस्कृति का अध्ययन न केवल ज्ञान वृद्धि हेतु संतुलित आहार है, अपितु अपने अतीत की नींव में भविष्य निर्माण का अवलंब भी है।

कला का आदि स्रोत लोक चेतना में होता है। ये कलाएँ सहज, सरल, कृत्रिमता से दूर मानव के मन की गहराइयों में स्थित प्रतिभा से प्रस्फुटित होती हैं इसलिए माधुर्य और आनंद से सराबोर होती हैं।

'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में कहा है—"कलानां प्रवरम् चित्रं धर्म कामार्थ मोक्षम्। मांगल्यम् प्रथमम् चौतद गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।" अर्थात चित्रकला कलाओं में श्रेष्ठ है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाली है। जिस घर में इसकी प्रतिष्ठा की जाती है वहाँ पहले ही मंगल हो जाता है।

लोक कला का मूल तत्व 'सृजन' है और यही सृजन संस्कृति का पर्याय है। सृजन आदिम काल या पुरातन कलाओं के अवशेषों के रूप में, उस काल में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र तथा कुछ जीवन में प्रयुक्त होने वाली घरेलू वस्तुओं के रूप में तथा गुफाओं पर अंकित चित्रों के रूप में मिलते हैं। ये गुफाओं पर अंकित चित्र एक ओर तो उनकी कला के अवशेष हैं, तो दूसरी ओर उनकी संस्कृति को समझने के चिह्न हैं। आज लोक कला का जो डिजीटल रूप हम देख रहे हैं, उसको समझने के लिए हमें पाषाण युग के उपयोगी हथियार और औजार (चापिंग) को भी समझना होगा, जो आज अपना निश्चित आकार खो चुके हैं। मध्य पाषाण युग के पशुओं की हड्डियों से बनाए गए आभूषण और गुफाओं के चित्र मानव अभिव्यक्ति के प्रथम लेख हैं।

प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद से लेकर आज तक के सभी ग्रंथों में, चाहे बौद्धकालीन ग्रंथ हों, चाहे बाल्मीकि की रामायण, महाभारत, कालिदास का रघुवंश, बाणभट्ट का हर्षचरित, भवभूति का उत्तर रामचरित या पाली, प्राकृत अपभ्रंश आदि किसी भी भाषा में लिखा ग्रंथ हो, सभी में चित्रकला का सुंदर उल्लेख हुआ है। ये चित्रकला केवल मनोविनोद अथवा भौतिक विलास नहीं है वरन् सौंदर्य तत्व की खोज है। इसमें भाव-व्यंजना की प्रधानता है और काव्य की भाँति इसका प्राण तत्व रस है, इसीलिए भारतीय कला प्राणवान और सजीव है। कलाओं में वातावरण का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। उत्तराखंड की पवित्रता भी उसकी लोक कलाओं में स्पष्ट झलकती है।

'एपण' उत्तराखंड राज्य के कुमाऊँ क्षेत्र में प्रचलित धरातलीय चित्रांकन की एक शैली है, जिसका अर्थ है 'अल्पना', जिसकी व्युत्पत्ति 'लिप' धातु से की जाती है। मान्यता है कि एपण से सज्जित घर-द्वार को दैवीय शक्तियाँ संरक्षित करती हैं। एक किंवदंती है कि 'जब तक लक्ष्मण जी द्वारा खींची गई 'रेखा' द्वार पर थी, सीता जी तब तक सुरक्षित थीं।' एपण में बनाई जाने वाली रेखाओं को भी 'सुरक्षा' के भाव से जोड़कर माना जाता है कि जिस घर की दहलीज पर एपण अंकित होंगे वहाँ कोई अनिष्टकारी शक्ति और बाधाएँ नहीं आएँगी।

एपण शब्द का मूल अर्थ अल्पना, आलेखन और अर्पण में ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है, किंतु महाकवि तुलसीदास ने दोहावली (दोहा 454) में एपण शब्द का प्रयोग महिलाओं द्वारा घर की दीवार पर बनने वाले हाथ के छापों के लिए किया है, जैसे—

"अपनों ऐपन निज हथा, तिय पूजहि निज भीत।
फरइ सकल मन कामना, तुलसी प्रीत प्रतीत॥"

यह दोहा एपण शब्द की प्राचीनता, व्यापकता और उपयोगिता पर प्रकाश डालता है। एपण कई प्रकार के हो सकते हैं, परंतु उसके दो भाग होते हैं—संस्कार संबंधी निश्चित केंद्रीय आलेखन और बाह्य सज्जा। केंद्रीय आलेखन एपण की आत्मा होते हैं और इसमें फेर-बदल नहीं होता है। जबकि साज-सज्जा का आकार, बेलें, स्वास्तिक और विभिन्न मांगलिक उपादानों में परिवर्तन किया जा सकता है। हर मंगल अवसर के लिए अलग प्रतीकों के द्वारा एपण बनाने का एक निश्चित स्वरूप होता है। देवताओं के स्वागतार्थ बनने वाले एपण 'चौकी' कहलाते हैं, जैसे—सरस्वती चौकी, लक्ष्मी की चौकी आदि। कुमाऊँनी लोक चित्रकला में दूसरा वर्ग पट्ट पर बनने वाले आकृति-प्रधान और आलेखन-प्रधान चित्रों का है, जैसे—कृष्ण जन्माष्टमी पट्ट, वट-सावित्री पट्ट, आदि।

जन्म, छठी, नामकरण, उपनयन, विवाह आदि उत्सवों पर विभिन्न प्रकार के एपण बनाए जाते हैं। पूजा का कमरा एपणों के बिना अधूरा माना जाता है। पहाड़ की देली हमेशा एपणों से सजी रहती हैं। एपण में द्वार एपण, देहरी एपण, वेदी एपण के अलावा शिव-पीठ, जनेऊ चौकी, अलग-अलग पूजा और संस्कारों के लिए अलग-अलग चौकियाँ कुमाऊँ की लोक कला को सबसे अलग बनाती हैं।

कुमाऊँनी लोक कला में अंकित लोक तत्व

कुमाऊँ की संपूर्ण लोक कला प्रकृति के चारों तरफ घूमकर आध्यात्मिक पृष्ठभूमि तैयार करती है। यहाँ के अंकनों की तकनीक भी यहाँ की लोक सृजनात्मकता की ही परिचायक है। कुमाऊँ में ऋतुओं और कृषि को भी उत्सवों और पर्वों के रूप में सम्मान दिया गया है। यहाँ के लोक विश्वास भी यहाँ की कला की नींव तैयार करते

हैं। बहुत-सी लोक कथाएँ भी लोक मिथक के रूप में यहाँ के लोक चित्रों में प्रविष्ट हुईं, जैसे—दुर्गा थापा में अंकित भोलानाथ, बाला-बरमी आदि। 'बिरूड़ाष्टमी' का पट्ट और नंदा-सुनंदा की मूर्ति भी यहाँ की लोक

धारणाओं का ही परिणाम हैं। पशुओं का यहाँ प्रतीकात्मक रूप में अंकन हुआ है।

दुर्गापट्ट को 'दुर्गा थापा', जीव मातृकाओं को 'ज्यूंती', कलश को 'गड्वा', स्वास्तिक को 'खोड़िया' और शुक-सारंग को 'सुसारिंग' कहा जाता है। इसके अलावा मुवाली, जनेऊ, लक्ष्मी पौ, धुल्यर्ध्य की चौकी, बिखौती, चौतुआ, नाता-बंधन आदि यहाँ के स्थानीय नाम हैं, जो अनेक जगह प्रयुक्त हुए हैं। जहाँ तक नवग्रह, सर्वतोभद्र, लिंगतोभद्र आदि का अंकन है, ये भारतीय धार्मिक संस्कारों के प्राचीन विधान हैं।

बहुत से लोग इन चौकियों को मात्र पूजा-अर्चना हेतु पुष्पों व लताओं के कलात्मक प्रतीकों का आलेखन मात्र मानते हैं तथा जिन चौकियों में ज्यामितीय व तांत्रिक रचना का साम्य होता है, उन्हें तंत्र की मानसिकता व आस्था से निर्मित न मानकर केवल भावात्मक व पवित्रता का प्रतीक मानकर बनाया हुआ मानते हैं। परंतु यह धारणा युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि तंत्र-यंत्रों के

निर्माण की विशिष्ट शैली व योजना के समान ही विभिन्न कोणों, त्रिभुजों, गोलाकारों, अष्टदल कमलों का निर्माण एपणों की चौकियों में होता है। पर एक अंतर तांत्रिक अनुष्ठानों में निर्मित यंत्रों और एपण द्वारा निर्मित प्रतीकों में अवश्य होता है। तांत्रिक अनुष्ठानों में निर्मित यंत्र को उपासना के बाद मिट्टी से ढँक दिया जाता है या जल में समाधिस्त कर दिया जाता है। परंतु एपण के अंतर्गत निर्मित चौकियों को यथावत रहने दिया जाता है और त्योहारों व व्रतों में पुनः गेरू से लीपकर एपणों का आलेखन किया जाता है। अतः ज्ञानवर्धन के लिए इन प्रतीकों की तांत्रिक मान्यताओं व एपण का अंतर समझना आवश्यक है।

अभिप्राय यह है कि मंडल निर्मित चौकी पर देव प्रतिमा उपासना हेतु स्थापित की जाती है, इसलिए तांत्रिक प्रतीकों से युक्त होते हुए भी कुमाऊँ में एपण द्वारा निर्मित चौकियाँ यंत्र न होकर 'मंडल' के अंतर्गत आती हैं तथा निर्मित की जाती हैं। यह बताना इसलिए आवश्यक है क्योंकि तांत्रिक पूजा और मंत्र पूजा में बहुत अंतर होता है और ज्ञान न होने के कारण लोग इसे एक ही समझकर द्वंद्व में फँस जाते हैं।

किसी भी शुभ कार्य के लिए घर को सजाना मुख्य कार्य होता है। जहाँ अल्पना देनी होती है, उस स्थान को गेरू से लीप दिया जाता है व चावल के पेस्ट से अनामिका अंगुली से महीन-महीन डिजाइन देकर एपण पूरे किए जाते हैं। बदलते माहौल के साथ एपण तैलीय रंग द्वारा दिए जाने लगे हैं जो काफी समय तक टिकाऊ रहते हैं।

कुमाऊँ के हर उत्सव और हर संस्कार में अलग-अलग प्रकार से सजाया जाता है। ये धार्मिक आस्था के साथ ही प्राचीन शकुन संकेतों को अपने में पिरोए होते हैं जिससे हम इनको देखकर अपनी परंपराओं और मान्यताओं को समझ सकते हैं। विभिन्न स्थानों के आधार पर भी इन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं, जैसे—द्वार एपण, देली एपण आदि। संस्कारों के एपण, धार्मिक अनुष्ठान के एपण और विभिन्न त्योहारों के पट्ट, विवाह में विभिन्न रस्मों के लिए अलग-अलग चौकियाँ, विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, वस्त्रों पर अनेक प्रकार का अंकन, मिट्टी से अलग-अलग लोक मूर्तियाँ बनाना, ऐसी न जाने कितनी कलाएँ हैं जो कुमाऊँ के लोग अपने में समाए हुए हैं।

कुमाऊँ की सभ्यता और संस्कृति गाँवों से उद्भूत होकर शहर की ओर विकसित हुई। यहाँ के विकास क्रम की गति धीमी रही, जिसके मूल में यातायात और रोजगार के साधनों का अभाव रहा है। कुमाऊँ लोक कला का पक्ष आज भी धार्मिक जीवन में आस्था से जुड़ा है। यहाँ का प्रत्येक कर्मकांड आनुष्ठानिक रूप लिए हुए है जो लोक चित्रों में उभरकर आता है। यह कहना आवश्यक होगा कि कुमाऊँ की ही नहीं, वरन् समस्त भारत में लोक कला की जीवंतता और सौंदर्यानुभूति की सांस्कृतिक परंपरा को बनाए रखने में महिलाओं का विशेष योगदान रहा है। ये स्वाभाविक भी है और सत्य भी कि युग परिवर्तन के साथ-साथ परिस्थिति और जीवन तत्वों के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य आता है और इस परिवर्तन का प्रभाव लोक संस्कृति पर भी पड़ता है। परिवर्तन आवश्यक है, पर वह सुरुचिकर हो, समाज के लिए सार्थक हो तो

अच्छा है। उसमें लोक जीवन की आत्मा का ह्रास न हो, सांस्कृतिक मूल्यों का विनाश न हो, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमाऊँ की लोक कला पग-पग पर धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों के साथ चलती है। दूसरे शब्दों में यह कहें कि धार्मिक मान्यताओं और संस्कारों ने ही इस कला को जन्म दिया है तो गलत नहीं होगा। धार्मिक और पौराणिक तथ्यों व उनसे संबंधित प्रतीकों का दूसरा नाम कुमाऊँनी कला है या कुमाऊँनी कलाधर्म का पर्याय है। कुछ भी कहें बात एक ही है।

उत्तराखंड में पौराणिक संस्कृति का अथाह सागर है, जिसे सँभाल पाना बहुत दुष्कर है, अतः इसका संरक्षण जरूरी है ताकि आने वाली पीढ़ी इससे परिचित हो सके। हम सुख की खोज में अतीत को तो नहीं लौटा सकते, किंतु अतीत का प्राणदायी तत्व अवश्य ले सकते हैं।

गोवा के लोक गीतों और लोक नृत्यों के संरक्षण में जनजातियों का योगदान

भारत हमेशा से अपनी विविध प्रादेशिक लोक सांस्कृतिक विरासतों से समृद्ध रहा है। यहाँ के अलग-अलग प्रदेशों में भिन्न-भिन्न अवसरों पर उनकी लोक संस्कृति के अनुसार लोक गीत गाते हुए लोक नृत्य किए जाते हैं। लोक गीत और लोक नृत्य वास्तव में ऐसे साधारण गीत व नृत्य होते हैं, जो पूर्णतया बंधनमुक्त तथा शास्त्ररहित होते हैं। इनका सृजन सहज लोक भावों से प्रस्फुटित अलौकिक आनंद और हृदय में उमड़ी भानानुभूति से होता है। इनमें आम लोगों की दैनिक बोलचाल की भाषा और संगीत प्रयुक्त होता है। अतः जो गीत और नृत्य

डॉ. शुभ्रता मिश्रा

एक स्वतंत्र लेखिका हैं। 'विज्ञान प्रगति' एवं 'आविष्कार' जैसी अन्य पत्रिकाओं में उनके विज्ञान लेख नियमित प्रकाशित होते रहते हैं।

प्रकाशित पुस्तकें : भारतीय अंटार्कटिक संभारतंत्र, अंतरराष्ट्रीय हिंद महासागर अभियान : स्वर्णिम पचास वर्ष, अंटार्कटिका : भारत की हिमानी महाद्वीप के लिए यात्रा।

सम्मान : मध्य प्रदेश युवा वैज्ञानिक पुरस्कार (1999), राजीव गांधी ज्ञान-विज्ञान मौलिक पुस्तक लेखन पुरस्कार-2012 (2014 में प्रदत्त), वीरांगना सावित्रीबाई फुले राष्ट्रीय फेलोशिप सम्मान (2016), नारी गौरव सम्मान (2016)।

संपर्क : shubhratara vi@gmail.com

समाज के सांस्कृतिक विकास, परंपराओं तथा रूढ़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा लोक समाज के प्रतिबिंब स्वरूप होते हैं, वही लोक गीत और लोक नृत्य हैं।

भारत के प्रायः सभी प्रदेशों के लोक गीतों और लोक नृत्यों में मानव जीवन से जुड़ी वे समस्त संवेदनाएँ अनुभूत की जा सकती हैं, जो किसी भी प्रदेश की बेटी के ससुराल जाने पर माता-पिता के करुण स्वरों से प्रस्फुटित होती हों या कि संतान के जन्म पर परिवारजनों की हृदयानंद की स्वाभाविक नृत्यों से थिरकती झंकार हो, या फिर विवाह की उमंगों में नाचते लोग हों। विभिन्न अद्वितीय भारतीय लोक संस्कृतियों में समाहित तथा अद्‌भुत लोक संगीत में अवगुंठित लोक गीतों और लोक नृत्यों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों की अपनी संस्कृतियाँ, भाषाएँ, पहनावा, रीति-रिवाज, हाव-भाव, समाहित होते हैं। ऐसे ही लोक भावों की स्पंदना से गोवा प्रदेश के लोक गीतों की मधुरता एवं लोक नृत्यों की थिरकन जीवंत बनी हुई है, जो उसे लोक गीतों और लोक नृत्यों वाला गोवा भी बनाती है।

यूँ तो गोवा भारत में अपने पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होने वाले रूप के लिए अधिक जाना जाता है, लेकिन जब गोवा के मर्म तक पहुँचते हैं, तो उसमें अपनी कई जातियों, उपजातियों और जनजातियों की समृद्ध लोक परंपराओं, रीति-रिवाजों, त्योहारों, विश्वासों और संस्कृतियों के विविधता भरे इतिहास की परतें खुलने लगती हैं। हालाँकि गोवा के लोक इतिहास के लिखित प्रमाण बेहद सीमित हैं, यही कारण है कि यहाँ की लोक संस्कृति को लोक ग्रंथों के आधार पर समझने में थोड़ी कठिनाई आती है। हालाँकि गोवा के लगभग दो हजार वर्षों के पुख्ता इतिहास को खँगालने पर प्राचीन काल में कभी भारत के प्रमुख व्यापार केंद्र रहे इस भूखंड को भोजों, शिल्हरों, राष्ट्रकूटों, कदंबों, विजयनगर शासकों, आदिलशाही, अंत में पुर्तगालियों के शासनों से लेकर वर्तमान में भारत के अविभाज्य अंग के रूप तक के विभिन्न राजनीतिक रंगमंचों पर मोहक लोक गीतों और लोक नृत्यों के साथ झूमते देखा जा सकता है।

गोवा के निरंतर बदलते इतिहास के सांस्कृतिक व सामाजिक प्रभावों के सम्मिलित स्वरूप के दर्शन आज भी यहाँ के लोक जीवन विशेषरूप से गोवन आदिवासी और जनजातीय समाजों के लोक गीतों और लोक नृत्यों में स्पष्ट तौर पर किए जा सकते हैं। गोवा के आदिवासियों में गावड़ा, कुनबी और वेलिप जनजातियाँ प्रमुख हैं। इनमें से भी गावड़ा जनजाति के लोग सबसे अधिक आबादी वाले हैं। ऐसा माना जाता है कि ये तीनों जनजातियाँ मूल रूप से मध्य प्रदेश के छोटा नागपुर क्षेत्र से आई थीं। जब ये जनजातियाँ गोवा आई थीं, तब

उनके पास पशुपालन, अनाज उत्पादन, पौधे लगाने और फसल रोपण हेतु धरती खोदने के लिए कृषि उपकरण और कई दूसरे तरह के औजार बनाने का तकनीकी कौशल था। वे गोवा के वनक्षेत्रों में और ग्रामीण गोवा के अंदरूनी इलाकों में बस गए थे। उनके आगमन के बाद गावड़ा कुनबी और वेलिप जनजातियों के पूर्वजों ने अपने सामान्य ज्ञान और तकनीकी कुशलता का उपयोग करके उस स्थान का सर्वेक्षण किया और धीरे-धीरे वृक्षारोपण और कृषि आदि के लिए पहाड़ी क्षेत्र में बंजर पड़ी भूमि को उपयोग के लिए तैयार किया। इन आदिवासियों ने बड़े पैमाने पर वनों की कटाई की और मुख्य रूप से भूमि को धान के खेतों के लिए उपजाऊ बनाया। यही नहीं उन्होंने धान की फसल की रक्षा के लिए खेत तक आने वाले समुद्र के खारे पानी को रोकने के लिए आंतरिक और बाहरी बाँध बनाकर समुद्री अभियांत्रिकी की अनूठी मिसाल भी पेश की थी। आज भी ये आदिवासी जनजातियाँ राज्य के मात्र दो जिलों उत्तर और दक्षिण गोवा के लगभग सभी 12 तालुकों में निवास करती हैं।

सही मायनों में ये ही वे जनजातियाँ और आदिवासी लोग हैं जिन्होंने ग्रामीण गोवा के लोक गीतों और लोक नृत्यों आदि सांस्कृतिक विरासतों को मूल रूप में बनाए रखने में बहुमूल्य योगदान दिया है। इतिहास के पलटते पन्ने कहते हैं कि 25 नवंबर, 1510 को अफोन्सो डी अल्बुकर्क ने जब गोवा पर विजय प्राप्त की, तब पश्चिमी औपनिवेशिक शासकों के डर से गोवा की आदिवासी जनजातियाँ जंगलों के अंदरूनी हिस्सों में चली गई थीं। वहाँ उन्होंने अपने रीति-रिवाजों और अपनी प्रशासनिक परंपराओं के साथ विभिन्न स्थानों और गाँवों में स्थिर बस्तियाँ बसाईं। हालाँकि पुर्तगाली शासन के बाद भूमि पर आदिवासियों के व्यक्तिगत अधिकार को समाप्त कर दिया गया था। गोवा में पुर्तगाली औपनिवेशिक काल का सबसे बुरा प्रभाव आदिवासियों पर पड़ा था, क्योंकि उनको जबरदस्ती ईसाई धर्म अपनाना पड़ा था। इस कारण गावड़ा आदिवासी समुदाय दो भागों में बँट गया था—एक वे जो हिंदू ही रहे, उन्हें 'गावड़ा' कहा गया और दूसरे वे जिन्होंने धर्मांतरण अपनाया, 'ईसाई या क्रिश्चियन गावड़ा' बन गए। क्रिश्चियन गावड़ा के भी दो भाग हुए, जिन्हें 'क्रिश्चियन गावड़ा' और 'कुनबी गावड़ा' के नाम से जाना जाता है। कालांतर में कुछ धर्मांतरित गावड़ा लोगों ने पुनः हिंदू धर्म अपना लिया और उन्हें 'नव हिंदू गावड़ा' कहा जाता है।

वर्तमान में भी बहुसंख्यक गावड़ा, कुनबी और वेलिप आदिवासी समुदाय हिंदू और ईसाई धर्म का पालन करते हैं। गोवा के स्वतंत्रता आंदोलन में कई गोवा आदिवासी समुदायों का योगदान रहा है, जिनमें गावड़ा, कुनबी और वेलिप समुदाय प्रमुख रूप से शामिल रहे हैं। दिसंबर 2002 में, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति संशोधन विधेयक, 2002 संसद में पारित किया गया और गोवा के गावड़ा, कुनबी और वेलिप आदिवासियों को संवैधानिक सूची की अनुसूचित जाति में शामिल किया गया। 07 जनवरी, 2003 को राष्ट्रपति ने विधेयक को स्वीकृति दी और 2003 के बाद से गावड़ा, कुनबी और वेलिप आदिवासी समुदायों को अनुसूचित जनजाति के रूप में अधिसूचित किया गया है।

गोवा की एक और प्रसिद्ध आदिवासी जनजाति है, जिसे 'वानरमारे' के नाम से जाना जाता है। यह जनजाति मुख्य रूप से महाराष्ट्र, गोवा और कर्नाटक के पश्चिमी घाट के जंगलों में पाई जाती है। ये लोग सालों से बिना किसी सरकारी दस्तावेज के जंगलों में घूम रहे हैं। ये लोग जंगलों में बंदरों का पीछा करने और उनका शिकार करने की अपनी सदियों पुरानी परंपरा के लिए जाने जाते हैं और इसलिए इस जनजाति का नाम 'वानरमारे' पड़ा। अब इस जनजाति ने अपनी यह परंपरा छोड़ दी है और गोवा के संगुएम तालुका से लगे गन्ने के खेतों में काम करना शुरू कर दिया है। वानरमारे जनजाति के लोगों का कोई स्थायी ठिकाना नहीं है और न ही वे भारतीय संविधान की अनुसूचित जनजाति में शामिल हैं। गोवा में 04 फरवरी, 2017 को हुए विधानसभा चुनाव में पहली बार वानरमारे जनजाति ने मतदान कर मुख्यधारा में शामिल होने की तरफ अपना कदम आगे बढ़ाया था।

गोवा के ग्रामीण ईसाई समाज में विवाह-गीतों में चूड़ियों के महत्व की बात भी सामने आती है। इनमें दुल्हन को लाल-हरी-केसरी रंगों की चूड़ियाँ पहनाई जाती हैं, जिन्हें 'चूडो' कहा जाता है। इनको

पहनाकर दुल्हन को माता मरियम और ईसा मसीह से आशीर्वाद दिलवाया जाता है। उस समय एक लोक गीत विशेष तौर पर गाकर नृत्य किया जाता है, यह लोक गीत कोंकणी भाषा में इस प्रकार है—

दुसरी आमच्या बापा, तिसरी नमान मेरी
आमच्या चुड्याक बेसाव दीतू, सर्गीच्या आंकवार मोरी
चौथी शरणायतां, पाँचवीं सतेमानतां
आमच्या चुड्याक बेंसाव दितात सर्गीची भागेवंता
आयकु आयकु न्हवत्या व्होकल सांगता काणी
आपुण म्हुणा राणी, तुजे राजवटकेची
शेतात वेत्या मानया, खांधार तुज्यां खोरे
तुजे देवान करचे बोरे, नवत्या बाबा आमच्या।

गोवा के असंख्य लोक नृत्यों में कुनबी नृत्य, जागोर, फुगड़ी और ढालो प्रमुख हैं। कुनबी नृत्य कुनबी आदिवासी महिलाओं के नर्तकों के एक समूह द्वारा किया जाने वाला तेज और सुरुचिपूर्ण नृत्य है।

जागोर नृत्य को शुद्ध मनोरंजन की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि यह हिंदुओं और कैथोलिकों द्वारा साझा की गई एक परंपरा, नृत्य और रंगमंच का अनूठा मिश्रण है। इसमें दैनिक जीवन का प्रतिनिधित्व, वर्तमान घटनाओं और व्यक्तित्वों पर कटाक्ष, गाँव के असभ्य सरकारी अधिकारी जैसे किरदारों को जागोर नृत्य में देखा जा सकता है। प्राचीन काल में गोवा में गावड़ा, कुनबी और वेलिप आदिवासी समुदायों ने पारंपरिक रूप से जागोर जारी रखा था। यह बिना किसी निरंतर कथानक या कथा पर आधारित नृत्य नाटक है। केवल आदिवासी गाँवों जो तिस्वाडी, सालसेट, मरमगाओ, सत्री, पोंडा आदि विभिन्न तालुकाओं के अंतर्गत आते थे, में विशेष रूप से किया जाता था। बहुत पहले, बर्देज क्षेत्र में इस तरह के 12 जागोर किए जाते थे। यह मान्यता थी कि इस नृत्य के करने से देवता प्रसन्न होते हैं और प्राकृतिक विपदाएँ नहीं आती हैं। फिर पुर्तगाली शासन के दौरान उन पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। इसके बाद, सलीम गाँव में कई प्राकृतिक आपदाएँ आईं और लोगों को लगा कि जागोर बंद करने से ऐसा हो रहा है। इसलिए चर्च और कुछ पुजारियों की पहल से जागोर को फिर से शुरू किया गया।

फुगड़ी गोवा का सबसे लोकप्रिय लोक नृत्य है, जो केवल महिलाओं द्वारा किया जाता है। फुगड़ी लोक नृत्य को करने के लिए स्त्रियाँ नववारी साड़ी कछोटा बाँधकर पहनती हैं। इसे कभी भी किसी भी ऋतु में किया जाता है। यहाँ तक कि लोग खेतों में काम करते समय, होली उत्सव में नवदंपत्तियों द्वारा और सभी महत्वपूर्ण सामाजिक और आध्यात्मिक अवसरों पर फुगड़ी नृत्य किया जाता है और यहाँ तक कि अन्य नृत्यों जैसे ढालो के अंत में भी किया जाता है। जब कलश लेकर फुगड़ी नृत्य किया जाता है, तो इसे 'कलशी फुगड़ी' कहते हैं।

ढालो भी गोवा का लोक नृत्य है जो भी मुख्य रूप से महिलाओं द्वारा किया जाता है जिसमें वे नृत्य, नाटक और संगीत का बेजोड़ नमूना प्रस्तुत करती हैं। पहले फसल को काटा और संगृहीत किया जाता है, सर्दियों में चाँदनी रातों में गाँव के मांड यानी पवित्र स्थल पर ढालो का आयोजन किया जाता है।

इनके अलावा और भी लोक नृत्य हैं, जो गोवा के आदिवासियों द्वारा विभिन्न उत्सवों पर किए जाते हैं। इनमें दीवाली नृत्य भी एक है जो प्रमुख रूप से शिग्मोत्सव में किया जाने वाला एक नृत्य है। इसमें बिना किसी सहारे के सिर पर पाँच प्रकाशदीपों को रखकर नृत्य किया जाता है और एक साथ तेल-दीपक को संतुलित किया जाता है। नृत्य के दौरान दीपक झुकना या गिरना नहीं चाहिए। यद्यपि इस कार्य को करने के लिए बहुत अधिक एकाग्रचित्तता की आवश्यकता होती है, फिर भी आदिवासी नर्तक इसको बेहद स्वाभाविक रूप से और सुरुचिपूर्ण ढंग से करते हैं।

'घोडे मोदनी' भी उत्तरी गोवा में रहने वाली जनजातियों द्वारा किया जाने वाला एक नृत्य है। यह नृत्य विशेष रूप से पुरुषों द्वारा

तलवारें लेकर किया जाता है और वे घोड़े के जैसी पोशाक धारण कर ताल पर थिरकते हैं जो उन्हें घुड़सवारी का रूप देता है। यह कहा जाता है कि इसमें प्रतिद्वंद्वी को हराने के बाद राणे के योद्धाओं के घर लौटने की भूमिका को चित्रित किया जाता है। आमतौर पर मंदिर में आध्यात्मिक अनुष्ठान करने के बाद विशेष पोशाक पहनकर यह नृत्य किया जाता है।

'देखणी' भी एक अन्य तरह का खूबसूरत गोवन लोक गीत और लोक नृत्य का सम्मिलित रूप है। इसमें पाश्चात्य संगीत के ताल पर

भारतीय पद्धति के गीत गाए जाते हैं। देखणी शब्द का अर्थ है, सुंदर दिखने वाली। देखणी नृत्य के बारे में यह आख्यान प्रचलित है कि गोवा में पुर्तगालियों के आने के बाद उन्हें खुश करने के लिए स्थानीय लोग पाश्चात्य संगीत की धुन पर भारतीय शैली में गीत गाकर नृत्य करते थे, तब से इसका प्रारंभ हुआ। देखणी नृत्य में केवल महिलाएँ ही नृत्य करती हैं, जो नौ गज की साड़ी पहनकर, बालों का जूड़ा बनाकर उसमें फूल लगाती हैं। साथ ही, नाक में नथ और पैरों में पाजेब सहित अन्य पारंपरिक गहने भी पहने जाते हैं। इसमें गिटार, वायलिन वाद्यों का उपयोग किया जाता है। देखणी नृत्य करते समय गाया जाने वाला लोक गीत निम्नलिखित है—

हांव सायबा पलतडी वयता दामुल्या लग्नाक वेता
म्हाका सायबा वाट दाखय म्हाका सायबा वाट कोलोना
नाकाची नोथु दिता, पांयाची पॉयजणां दितां
म्हाका सायबा वाटु दाकय म्हाका सायबा वाटुकोलोना

'गोफइसे' भी शिग्मोत्सव के दौरान किया जाने वाला एक लोक नृत्य है, जो विशेष तौर पर 'पोइगुइनीम' नामक गाँव में होता है। इसमें पुरुषों का एक समूह घर-घर जाकर इस नृत्य का प्रदर्शन करता है। इस लोक नृत्य में नाचते हुए रस्सियों से एक मटोव (चंदवा) बना दिया जाता है। प्रत्येक नर्तक एक रस्सी रखता है और गाने की लय के साथ रस्सी को घुमाते हुए नृत्य करता है। इससे रस्सियाँ आपस में उलझ जाती हैं, फिर वे रस्सियों को सुलझाने के लिए विपरीत दिशा में घूमकर नृत्य करते हैं। वास्तव में यह जीवन के सुख-दुख को दर्शाने का प्रतिनिधि लोक नृत्य है।

गोवा की एक और विशेष तौर पर चरवाहों के समुदाय वाली जनजाति है धनगर, जो पहाड़ों पर भेड़-बकरी चराने का काम करती है। मूलरूप से धनगर जनजाति के लोग सौराष्ट्र से संबंधित हैं। ऐसा माना जाता है कि ये लोग भेड़-बकरी चराते हुए गोवा पहुँच गए थे और फिर वहीं बस गए। इस जनजाति द्वारा किया जाने वाला लोक नृत्य धनगर नृत्य के नाम से प्रसिद्ध है। धनगर जनजाति के लोग अपने 'बीरा' नामक लोक देवता की पूजा करते हैं। वे अनुष्ठानों और विभिन्न प्रकार के समारोहों में ढोल और बाँसुरी पर इस नृत्य को करके जश्न मनाते हैं। टोनीमेल भी गोवा का एक आदिवासी लोक नृत्य है, जो खेतों में काम करने वाले किसानों द्वारा अच्छी फसल के उत्सव के उपलक्ष्य में किया जाता है। यह बेहद ओजपूर्ण नृत्य है जो खूब सारे शोर और ध्वनि के साथ किया जाता है। वास्तव में यह नृत्य एक प्रकार से मातृ प्रकृति को दिया जाने वाले सम्मान का प्रतीक नृत्य है। इसी तरह 'मोरुलेम' नामक एक और लोक नृत्य है, जिसमें नर्तक अपने देवताओं को संतुष्ट करने के लिए पुराने और पारंपरिक गीतों पर नृत्य करते हैं। नर्तकियों की वेशभूषा में फूलों की माला के साथ-साथ मोर के पंख भी शामिल होते हैं, जिन्हें सिर पर सजाया जाता है। 'भोंवादो' नृत्य एक आनुष्ठानिक नृत्य है जो आमतौर पर शिरगाओ में देवता 'लराई' की दावत के दौरान होता है। लोक कलाकार मंदिर के प्रांगण में घेरा बनाकर इसकी शुरुआत करते हैं।

मुसोल नच क्षत्रियों द्वारा चंदोर गाँव में ईसाइयों के बीच किया जाने वाला एक लोक नृत्य है, जो ईसाई उत्सव की दूसरी रात को साल्केते तालुका में होता है। मुसोल नृत्य करने के पीछे कहानी यह है कि गोवा के चाँदर गाँव पर शासन करने वाले विजयनगर साम्राज्य में वहाँ के राजा ने चोल राजा को मुख्य द्वार पर रोककर उसे पराजित किया था। उसी विजय के जश्न के तौर पर मुसोल नृत्य की शुरुआत हुई थी। उस समय बंदी बनाए गए चोलराजा को बाँधकर घुमाया गया था। उसी प्रसंग को स्मरण करते हुए चोल राजा के प्रतीक के रूप में भालू का मुखौटा लगाकर आज भी मुसोल नृत्य किया जाता है। इस नृत्य को करते समय निम्नलिखित लोक गीत साथ में गाया जाता है—

गोयांत आयलो सांकपारी,
आनी कात काडली आमची तुरुशांनी
गोयांत सान कामदेव येता देख तमाशा
आरे गोंयांत सान कामदेव येता देख तमाशा
गोयांत सान फिरंगी येता देख तमाशा
फिरंग्याच्या माथ्यार चेपें आसा रे
फिरंग्याच्या माथ्यार चेपें आसा

वस्तुतः गोवा के इन सभी लोक गीतों और लोक नृत्यों के संरक्षण में गोवन जनजातियों और आदिवासी समुदायों का विशेष योगदान रहा है। इनके कारण ही आज भी गोवा जैसा पाश्चात्य संस्कृति वाला प्रदेश लोक गीतों और लोक नृत्यों का सांस्कृतिक संरक्षक बना हुआ है।

रावटिया अलंकरण

मारवाड़ की सांस्कृतिक विरासत में भवन निर्माण कला विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ के भवन निर्माण कार्य में मारवाड़ का कच्चा माल, थली प्रदेश का आधार व शेखावाटी का अलंकरण एक त्रयी के रूप में परिलक्षित होता है। भवनों का निर्माण किसी एक विशिष्ट शैली पर आधारित नहीं है, बल्कि उनमें समन्वित शैली का मिश्रण है। भवनों के बड़े स्तंभ व बड़े दरवाजे इटालियन शैली का संकेत देते हैं तो इनको अलंकृत करने का प्रयास हिंदू स्थापत्य का नमूना है। अलंकरण के तत्वों की सादगी व सरलता इस्लामी स्थापत्य की झलक प्रदान करती है।

यहाँ के भवन निर्माण में चौक मिलान पद्धति अपनाई गई है। इसीलिए यहाँ नौदरी, बारहदरी व बीसदरी चौक वाले भवन हैं। भवनों के प्रवेश द्वार को सँवारने की परंपरा भी रही है। मेहराबदार स्तंभ के मुख का बेल-बूटों के साथ पक्षियों को बिठाकर अलंकरण किया जाता है। यहाँ की हवेली का प्रवेश द्वार हिंदू स्थापत्य के विशिष्ट अलंकरण की सुंदरता लिए होता है। झरोखे, भवन निर्माण की राजपूत शैली के अंग रहे हैं। प्रवेश द्वार व झरोखे पत्थर पर घड़ाई के अद्वितीय उदाहरण हैं। झरोखों व प्रवेश द्वारों का अलंकरण शेखावाटी की हवेलियों में भी हुआ है, परंतु वह ज्यादातर भित्तिचित्रों के रूप में हुआ है। पत्थर उकेरने में मारवाड़ की हवेलियों का अपना अलग ही स्थान है। वैसे अलंकरण का विचार भले ही शेखावाटी से लिया हो, परंतु अलंकरण के रूप में ली गई जालियाँ, फूल-पत्तेदार व ज्यामितीय आकृतियाँ आदि आधारभूत रूप में फारसी स्थापत्य के ही नमूने हैं।

यहाँ के झरोखों का निर्माण भी दो प्रकार से किया गया है। पहले प्रकार के झरोखे दीवार में सीधे ही खड़े कर दिए जाते हैं। द्वितीय प्रकार के झरोखे टोडों पर स्थापित किए जाते हैं। टोडों पर खड़े किए गए झरोखों को 'रावटिया' कहा जाता है। किसी भी प्रकार का झरोखा हो, झरोखे के प्रत्येक खाने में अलग-अलग नमूने की जाली लगाई जाती है। जाली की प्रत्येक इकाई अपने चित्रण में एक-दूसरे से बिलकुल अलग चित्रण लिए होती है। किसी भी सूरत में प्रतिलिपि नहीं होती है। अलंकरण में भले ही मोटे रूप में फूल-पत्ते, बेल-बूटे या अन्य दृश्य दिखते हों, पर सूक्ष्म अवलोकन पर कोई फूल शिव के तांडव नृत्य को दिखा रहा होता है तो कहीं कोई बेल का पत्ता गणेश को विराजित करता है। इस प्रकार रावटिया अलंकरण सूक्ष्म व स्थूल दो दृश्यावलियाँ लिए होता है।

छैनी के पैनेपन व कलई की कुशलता को साकार रूप देने के लिए घड़ाई हेतु खाटू का गुलाबी रंगत लिए चंदन वर्ण वाला पत्थर काम में लिया गया है। यह पत्थर खान से निकलते समय नरम व बाद में समय के साथ कठोर होता जाता है। यही कारण है कि शेखावाटी की हवेलियों के अलंकरण समय के साथ क्षय होने लग गए हैं, परंतु लाडनूँ की पत्थर घड़ाई व अलंकरण सदियों बाद आज भी कस्बे की सैकड़ों हवेलियों में अपनी आभार बिखेर रहे हैं।

बजरंगलाल जेठू

जन्म : 10 अगस्त, 1958।

संप्रति : प्रतिष्ठित हिंदी त्रैमासिक 'गवरजा' का संपादन-प्रकाशन, स्वतंत्र लेखन।

प्रकाशन : ज्ञान-विज्ञान पर दो सौ से अधिक आलेख प्रकाशित। लोकोपयोगी व पर्यावरण संरक्षण पर दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान : पर्यावरण व वन मंत्रालय, भारत सरकार का मेदिनी पुरस्कार, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का मौलिक लेखन पुरस्कार व राजस्थान सरकार हिंदीसेवी पुरस्कार आदि।

संपर्क : मो.— 9414961597, 8107261597

ई-मेल : bljethu@gmail.com

आओ भारतीय भाषाएँ सीखें

हिंदी	संस्कृतम्	पंजाबी	उर्दू	कश्मीरी	सिंधी	मराठी	कोंकणी	गुजराती	नेपाली	बांग्ला
घरेलू सामान	**गृहसामग्री**	**घेरेलू समान**	**ख़ानगी सामान**	**गरवेठ**	**वसुलो**	**घरगुती सामान**	**घरगुती सामान**	**घरगथ्थु सामान**	**घरेलु सरसामान**	**गृहस्थालीर आसबाब पत्रादि**
अलमारी	कपाटवती	अलमारी	अलमारी	अलमॉर्य	कबटु, अलिमारी	कपाट	आरमार	कबाट	आलमारी	आलमारि
ओखली	उलूखलम्	उक्खली	ओखली	व्खुल	उखिरी	उखळ	ओखळी	खांडणियो खांडणी	ओखली	उदुखल
गमला	पुष्पधानी	गमला	गमला	गमल	कुंडी	कुंडी	कुंडी	कुंडुं	गमला	गामला
चटाई	कटः	चटाई	चटाई	वगुव, पतज	तडी, तडो चटाई	चटई	शेंदरी	चटाई, सादडी, शेतरंजी	सुकुल, गुन्द्री	मादुर चाटाई
चाबी	कुञ्चिका	चाबी	चाबी, कुंजी	कुँज़	कुंजी, चाबी	चाबी, किल्ली	चावी	चावी	साँचो	चाबि
ताला	तालकः	जंदरा	ताला	कुलुफ	कुल्फु, तालो	कुलूप	कुलूप	ताळुं	ताल्चा	ताला
छाता	छत्रम्	छतरी	छत्री	छतर्य	छटी	छत्री	सत्री	छत्री	छाता	छाता
तकिया	उपधानम्	सराहूणा	तकिया	तॅकियि	विहाणो	उशी	उशी	तकियो, ओशींकु	तकिया, सिरानी	बालिश, ताकिया
रजाई, (लिहाफ)	कम्बलम्, तूलवती	रजाई	रज़ाई, लिहाफ़	रज़ॉय, लेफ़	सवड़ि, रजाई	रजई	पांगरूण, रजय	रजाई	सिरक	लेप
दीया	दीपः	दीवा	दिया	च़ोंग	ड्डीओ	दिवा	दीवो, दीप	दीवो	दियो, दीपदानी	प्रदीप
परदा	तिरस्करिणी	परदा	परदा	परद	पड़िदो, पर्दो	पडदा	पड्डो	परदो, पड़दो	पर्दा	परदा (पर्दा)
साबुन	फेनम्	साबण	साबुन	साबन	साबुणु	साबण	साबांव, शाबू	साबु	साबुन	साबान, साबुन

असमिया	मणिपुरी	ओड़िआ	तेलुगू	तमिल	मलयालम	कन्नड़	डोगरी	संताली	मैथिली	बोड़ो
घरुवा वस्तु बाहानि	**युमगी पोत्चै**	**घरकरणा जिनष**	**इंटि सामानु**	**वीट्टु सामान्गळ्**	**वीट्टु सामानङ्ङळ्**	**मनेय सामानुगळु**	**घरेलू समान**	**ओड़ाक् जिनिस पाति**	**घरेलु चीज वस्तु**	**न'खरनि बेसाद**
आलमारि	अलमारी	आलमारि	अलमारी	अलमारि	अलमार	अल्मेरा, कपाटु	अलमारी	आलमारि	अलमारी, अलबारी	आलमारि
खुबलि, उरल, उखलि	शुम्बल	हेमाम दस्ता	रोलु	उरल्	उरल्	ओरळु	उक्खल, रोल	तुक	उखरि, उक्खरि	उवाल
गाम्ला, चरिया	गमला	कुंड़	पूलतोट्टि	पून्तोट्टि	पूत्तोट्टि, चेटिच्चिट्टि	हू तोट्टि, हू कुंड	गमला	गामला	गमला	गामला
ढरा, ढारि	फक्	चटाइ	चाप	पाय्	पाय्	चापे	चटाई, दरी	पोटयो, चोटोई	पटिया	दाहरा
चाबि, संचार-काठि	चाबी, सों	चाबि, कंचि	तालम्-चेवि	चावि/ तिरुवुकोल्	ताक्कोल्, चावि	बीगद कै	चाबी	कोठि	कुंजी	साबि
तला, बादुलि, सँचार	वाइखू	ताला	ताळमु	पूट्टु	पूट्टुं, ताळ्	बीग	जंदरा	कुलुप, ताला	ताला	थाला
छाति	छातीन	छता	गोडुगु	कुडै	कुट	कोडे	छत्तरी	चातम	छत्ता	साथा
गारू, उपधान	मोन	तकिया, माण्डि	दिंडु	तलगाणि, तलैयणै	तलयिण	तलेदिंबु	सरैह्ना	सिथोन	गेरुआ	गान्दु
निहालि, लेप	कान्थ	रेजाइ, गदि	रजायि	रजाय	रजायि	रजाई	रजैई, रजाई	लैप	सीरक, तुराई	लेप, दुसा
चाकि	केगाम, थाङ्मै	दीप, प्रदीप	दीपमु	विळक्कु/ दीपम्	दीपम्, विळक्कुं	हणते	दीया	दियो, माली	दीप	साखि, बाथि
आँर कापोर, पर्दा	परदा	परदा, पर्दा	तेर, परदा	पडुदा, तिरे	पर्द, तिरश्शील, कर्टन्	परदे	परदा	परदा	परदा	फैसालि, फर्दा
चाबोन	सापोन	साबुन	सब्बु	सोप्पु	सोप्पुं	साबूनु	साबन	साबुन	साबुन	साबन

(केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित भारतीय भाषा कोश से साभार)

सदियों पुरानी कला है इंडोनेशियाई लकड़ी के मुखौटे

इंडोनेशिया के बाली द्वीप को कौन नहीं जानता? सर्फिंग के शौकीन उसके बीच पसंद करते हैं। पर्यटक वहाँ का सौंदर्य, वहाँ के मंदिर और मूर्तियाँ, वहाँ की मिट्टी में साँस लेती राम-सीता की कथा, जटायु और भगवान विष्णु की भव्य कलाकृतियाँ देखकर अचंभित होते हैं।

सिर्फ बाली ही नहीं, इंडोनेशिया में कहीं भी जब आप किसी शॉपिंग मॉल या बाजार में घूमते हैं तो कुछ चीजें आपका ध्यान सहज ही खींचती हैं। इनमें से एक है वहाँ का पारंपरिक बाटिक, दूसरा वहाँ का वुड क्राफ्ट (वुड-कार्विंग वाली कलाकृतियाँ और फर्नीचर तो विश्व विख्यात है।) और तीसरा है बड़े-बड़े सजावटी मास्क। अमूमन ये फेस मास्क भी लकड़ी के बने होते हैं और वहाँ की भाषा में इन्हें 'तोपेंग' कहते हैं।

इंडोनेशिया, 17 हजार द्वीपों वाला एक ऐसा देश है जिसके पास लोक कलाओं की समृद्ध थाती है। कपड़े की बुनाई की बात करें तो हर द्वीप की अपनी विशेषता है। हाथ से बने कपड़े बहुत महँगे बिकते हैं। फिर भवन निर्माण की पारंपरिक कला को देखें तो उसमें भी अचंभित करने जितनी विविधता है। बाँस की बनी, नारियल की बनी ऐसी अद्‌भुत वस्तुएँ आपको देखने को मिलेंगी जिनका कभी लोक जीवन में भरपूर उपयोग हुआ करता था।

अगर आपने कभी समाचारों में बाली के हिंदू नव वर्ष के जुलूस को देखा हो या वहाँ की किसी नृत्य-नाटिका की झलक देखी हो तो आपने बड़े-बड़े मुखौटे लगाए (कई बार जो भयानक नजर आते हैं) लोगों को चलते, नाचते, प्रदर्शन करते जरूर देखा होगा। आइए इन मुखौटों के रंग देखें और उनके पीछे के चेहरे भी।

इंडोनेशिया के बाली और जावा द्वीपों पर सबसे पहले इस कला का प्रादुर्भाव हुआ था। बताते हैं कि मुखौटे यानी तोपेंग बनाने की कला 15वीं सदी की है। हालाँकि कुछ जगह यह उल्लेख भी मिलता है कि सबसे पहले 14वीं सदी में लकड़ी के बने सुनहरे मुखौटे का प्रयोग मजापाहित के राजा हायम वुरुक ने किया था। इसका उल्लेख प्राचीन रचना 'नगाराक्रेतागामा' में मिलता है।

आदिवासी कबीलों में जब अपने पुरखों को प्रसन्न करने या बुरी शक्तियों को दूर भगाने के लिए नृत्य आयोजन होते थे तो उनमें कलाकार इन मुखौटों को अपने चेहरे पर लगाया करते थे। मुझे ये मुखौटे वाले नृत्य देखकर अपने दक्षिण भारतीय शास्त्रीय नृत्यों की वेशभूषा याद हो आई।

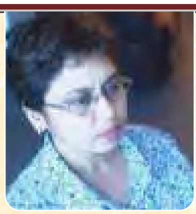

प्रीता व्यास

जन्म : भारत (वर्तमान में न्यूज़ीलैंड की निवासी)।

शिक्षा : एम.एससी. (रसायन), एम.ए. (इंग्लिश लिटरेचर), बी.एमसी.।

संप्रति : रेडियो, अखबार, पत्रिका (लोकमत समाचार, नागपुर/मेरी सहेली, मुंबई) में काम किया। भारत की कई पत्रिकाओं के विशेषांकों का संपादन, न्यूज़ीलैंड से प्रकाशित होने वाली त्रिभाषाई पत्रिका 'धनक' की हिंदी एडिटर।

कृतियाँ : हिंदी—'पत्रकारिता परिचय और विश्लेषण', 'इंडोनेशिया की लोककथाएँ', 'दादी कहो कहानी', 'बालसागर क्या बनेगा', 'जंगलटाइम्स', 'कौन चलेगा चाँद पे रहने', 'लफ़्फ़ाज़ी नहीं है कविता'। अंग्रेजी—6 से 12 साल के बच्चों के लिए 175 पुस्तकें प्रकाशित। किसी भारतीय लेखक द्वारा पहली बार हिंदी और इंडोनेशिया भाषा में प्रकाशित द्विभाषाई पुस्तकें—'परचाकापान सेहारी हारी' (दैनिक वार्तालाप), 'टाटा बहासा हिंदी' (हिंदी व्याकरण), और 'हिंदी सेहारी हारी'।

संपर्क : vyas_preeta@yahoo.com.au

सीधी-सी बात है कि लकड़ी प्रचुर मात्रा में है, सो आधार वही बनी। पेड़ के तनों को काटकर, छीलकर, आकार देकर, रंग-रोगन कर ये तोपेंग तैयार किए जाते थे। अब भी इसी तरह बनाए जाते हैं। सात पीढ़ियों से मुखौटे बनाने वाले एक कारीगर पा आगुंग ने बताया कि उनका परिवार पवित्र मुखौटे बनाता है। इसके लिए मंदिर प्रबंधन के लोग या सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए उत्तरदायी लोग आदेश देते हैं। उन्होंने बताया कि इन मुखौटों के लिए कोई भी लकड़ी नहीं ली जाती, केवल मंदिर के पास के पेड़ों या श्मशान के पास के पेड़ों की ही लकड़ी को चुना जाता है। इतना ही नहीं इसके लिए शुभ दिन का भी विचार किया जाता है और उसी दिन लकड़ी लाई जाती है।

पा आगुंग ने बताया कि जब तोपेंग बनकर तैयार हो जाता है तो प्रयोग में लाने से पहले बल्कि कहें तो सबसे पहले उसे उसी वृक्ष के पास ले जाया जाता है जिसकी लकड़ी से उसे बनाया गया। इससे वृक्ष का आशीर्वाद उसे मिलता है। वृक्ष की आत्मा हर्षित होती है, वृक्ष संतुष्ट होता है यह देखकर कि उसकी लकड़ी काटकर उसे नष्ट नहीं किया गया, बल्कि एक नए स्वरूप में जीवित रखा गया।

कैसा प्यारा दर्शन है। पा आगुंग की यह बात मुझमें उस सारे दिन मिठास घोलती रही। (हमारे यहाँ जैसे बड़ों को सम्मान के साथ चाचा या ताऊ या काका संबोधित किया जाता है वैसे ही इंडोनेशिया में अपने से बड़ी उम्र के पुरुष को बापा संबोधित किया जाता है और पा उसका संक्षिप्त रूप है, इसका अर्थ होता है—पिता।)

यह हस्तशिल्प ही है। कुछ तोपेंग निर्माताओं की तो कई-कई पीढ़ियों ने सिर्फ यही काम किया है। मुख्यतः इन मुखौटों में हिंदू और बौद्ध धर्म की कथाओं से जुड़े पात्रों की और प्रकृति की झलक मिलती है। हालाँकि आप उन्हें देखकर सीधे तौर पर किसी पात्र से जोड़ नहीं पाते। कुछ मुखौटे ऐसे होते हैं जिनका किसी पौराणिक कथा पात्र से कोई लेना-देना नहीं होता। ये सिर्फ दर्शकों के मनोरंजन को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं और इन्हें पहनकर प्रदर्शन करने वाले खूब हँसी-मजाक वाली बातें किया करते हैं।

'बालीनीज संस्कृति' का अटूट हिस्सा हैं ये मुखौटे। ये सिर्फ नृत्य में ही नहीं नजर आते, बल्कि आपको ये घरों के मुख्य द्वार पर भी नजर आते हैं। मुखौटे बनाने का काम करने वाले एक कारीगर पा हरियांतो ने मुझे बताया था कि ये बालीनीज तोपेंग वास्तव में चार प्रकार के होते हैं। एक तरह के मुखौटे वे हैं जो रक्षक कहलाते हैं, ये देखने में बड़े भयानक से लगते हैं और यह माना जाता है कि ये बुरी आत्माओं को दूर भगाते हैं।

दूसरी तरह के तोपेंग वे हैं जो पुरखों की आत्मा की शांति के लिए होने वाले कार्यक्रमों में इस्तेमाल होते हैं। तीसरे वे जो प्रदर्शन के लिए कलाकारों द्वारा इस्तेमाल किए जाते हैं और चौथे वे जिन्हें घरों में, या कार्यालयों में दीवारों पर सजावट के लिए इस्तेमाल किया जाता है। मंदिरों के प्रांगण में होने वाले नृत्य प्रदर्शनों में इन मास्क को चेहरे पर लगाकर कलाकार प्रस्तुतियाँ देते हैं। ये प्रतीकात्मक रूप से अच्छी आत्माओं को साथ रहने का आग्रह हुआ करता है।

बाली के हिंदुओं का मानना है कि हर जगह, हर जड़-चेतन वस्तु में ईश्वर है। जो आत्माएँ विदा हो चुकी हैं, उनका इस भौतिक जगत से नाता जोड़ते हैं ये मास्क, ऐसी भी धारणा है। इनके तीन स्वरूप हैं—अच्छी आत्माओं के निवास के आमंत्रण वाले, बुरी आत्माओं को दूर भगाने वाले और मंदिर के उत्सवों में प्रयुक्त होने वाले पवित्र मुखौटे।

मुखौटे बनाने में जुटे कारीगर घंटों छेनी-हथौड़ी, चीजल और सैंड पेपर के साथ काम करते हैं। कोई तय समय सीमा नहीं हुआ करती, काम एक माह में पूरा हो सकता है और छह माह भी कम पड़ सकते हैं। एक बार आकार और सजावटी फूल-पत्ती आदि उकेरने का काम पूरा हो जाने पर फिर रंग-रोगन का काम शुरू होता है। आमतौर पर चटख रंगों का प्रयोग दिखाई देता है। लाल, पीला, हरा और नीला रंग बहुतायत से प्रयोग में लाया जाता है। बड़ी-बड़ी आँखें, बड़े-बड़े दाँत, बड़े-बड़े खुले हुए मुँह, सिर पर कुछ मुकुट या फूल आदि, कुंडल और गले में भी आभूषण। इन मुखौटों को देखकर दैत्यों वाली कल्पना साकार हुई-सी लगती है, लेकिन राम और सीता के मुखौटे बड़े सौम्य होते हैं।

हालाँकि मूलतः यह कला बाली और जावा द्वीप की है, लेकिन तोपेंग-नृत्य लगभग सभी मुख्य प्रांत में देखने को मिलता है, हर जगह इसका स्वरूप थोड़ा भिन्न होता है। हर जगह इस नृत्य से जुड़ी कथाएँ भी भिन्न होती हैं। इस कला में प्रतीकात्मकता की बहुलता है। इंडोनेशिया में चूँकि कई तरह की संस्कृतियाँ घुल-मिल गई हैं तो इन मुखौटों पर उसका असर भी मिलता है। इनमें प्रकृति का प्रतीकात्मक स्वरूप, हिंदू देवी-देवताओं—दानवों का स्वरूप, बौद्ध धर्म से जुड़े प्रतीक, चीनी ड्रैगन सब नजर आते हैं। जो आसानी से पहचान में आ जाते हैं, उनमें गरुड़, ड्रैगन, नाग, बंदर, शेर, कुछ और जानवर, देवी-देवता आदि हैं।

शताब्दियों पुरानी इस कला को जीवित रखना और इस पर प्रसन्नता से काम करना बाली के मुखौटा कर्मियों का एक ऐसा गुण है जिसे देखकर गर्व महसूस होता है। हालाँकि तोपेंग-नृत्य को सीखने में अब नई तकनीक का भी सहारा लिया जाता है। मुखौटों को चेहरे पर एक चमड़े की पट्टी से कसकर घंटों प्रदर्शन करना आसान नहीं है।

लोक कलाएँ हमारी संस्कृति का ऐसा महत्वपूर्ण घटक हैं जिनका संरक्षण, संवर्धन आवश्यक है क्योंकि अगर आपके पास कोई संस्कृति नहीं है तो दरअसल आपकी पहचान ही नहीं है।

शामे-अवध के शब्द-चित्र

लखनऊ एक शहर मात्र नहीं है, यह देश की संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, आजादी के संघर्ष से लेकर आधुनिकता की सतत परंपराओं के साथ भारत की पहचान है। जब तक किसी आबादी के रहवासियों को अपनी स्थानीयता पर गर्व रहता है, वह शहर सँभला व सँवरा रहता है। गोमती नदी के तट पर बसे नवाबों के शहर को शब्दों की झाँकियों से सजीव करने का प्रयास है 'हिंदी वाङ्मय निधि' द्वारा प्रकाशित छोटी-छोटी कोई 45 पुस्तकें। इस संस्था ने 'हमारा लखनऊ' नाम से पुस्तकमाला प्रकाशित कर हिंदीभाषियों को एक अनुपम उपहार भेंट किया है जिसकी सहायता से आमजन को लखनऊ जनपद के इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य और यहाँ के विशिष्ट व्यक्तियों, घटनाओं, संस्थाओं आदि की विस्तृत जानकारी सुलभ है। इन पुस्तिकाओं के लेखक शहर के जाने-माने कलम के धनी, शोधार्थी, इतिहासविद आदि हैं। इस पुस्तकमाला में इन सब विषयों पर आधारित छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ हैं, जिन्हें बहुत ही कम सहयोग राशि में पाठकों के लिए उपलब्ध कराया गया है। इस पुस्तक-श्रृंखला में लखनऊ का बंग समाज, कश्मीरी पंडित, कायस्थ, पारसी, नवाब आदि का लखनऊ आगमन, वहाँ के मोहल्ले और उनकी शान, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में लखनऊ का योगदान, कला एवं साहित्य में योगदान, ऐतिहासिक स्मारक, सिनेमा-जगत आदि का प्रामाणिक और जरूरी विवरण मिलता है।

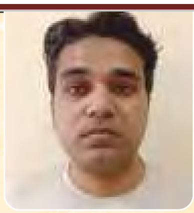

मोहन शर्मा

जन्म : 25 अप्रैल, 1989, दिल्ली।

शिक्षा : पत्रकारिता एवं जनसंचार में स्नातक, एम.ए. (हिंदी)।

संप्रति : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत में कार्यरत।

संपर्क : मोबाइल– 7428007292

ई-मेल : mohanjournalist@gmail.com

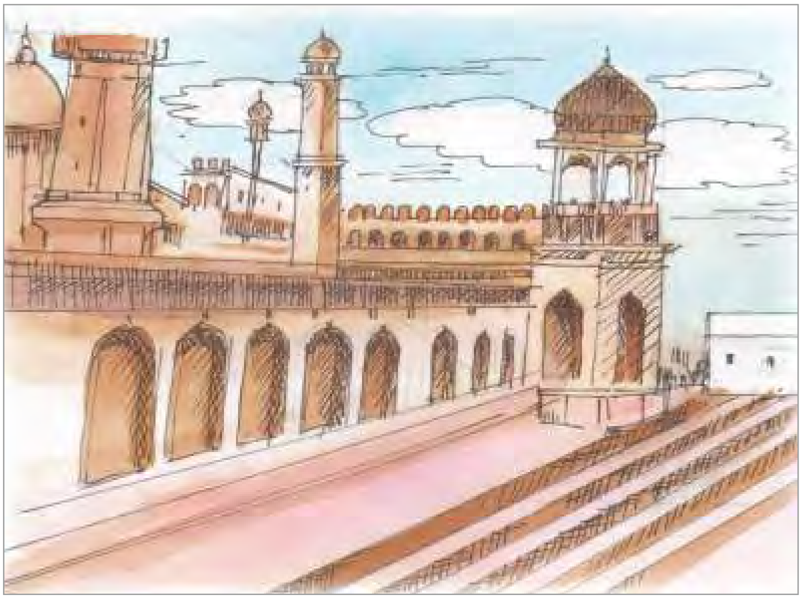

प्राचीन काल में उत्तर भारत के अन्य भागों के समान लखनऊ जनपद भी जंगलों से भरा था। बाद में मनुष्य ने अपने निवास और खेती आदि के कामों के लिए इन जंगलों का धीरे-धीरे सफाया कर दिया। 1775 ई. में जब अवध के नवाब आसफुद्दौला फैजाबाद से अपनी राजधानी लखनऊ लाए, तब इस स्थान का तेजी से विकास हुआ। फिर बाद के इतिहास में कई नवाब लखनऊ आए, जिनका वैभव अन्य शासकों से बहुत अधिक था। इसी कारण इसे 'नवाबों का शहर' भी कहा जाता है। इन नवाबों के रंग-महलों की रौनकें, कुछ नाजुक बातें, बेगमों की फरमाइशें, अजीब-ओ-गरीब तर्जे अमल, हास-परिहास के कुछ प्रसंग और कुछ दिलचस्प घटनाओं को डॉ. योगेश प्रवीन ने पुस्तक-श्रृंखला के 35वें पुष्प में सम्मिलित किया है।

हालाँकि स्थानीय इतिहास को पलटती इन पुस्तकों से इस मान्यता की जानकारी भी मिलती है कि अयोध्या के राजा श्रीराम के अनुज लक्ष्मण ने इस नगर को बसाया था, जिसकी स्मृति के रूप में 'लक्ष्मण टीले' का

कुछ भाग आज भी वहाँ सुरक्षित है। फिर मुगल शासनकाल में 'लक्ष्मण' नाम को परिवर्तित कर 'लखन' किया गया, जिससे 'लखनऊ' नाम निकलकर सामने आया। 1528 ई. में लखनऊ पर अधिकार करके बाबर ने चाँदी के सिक्के चलाए, जिन पर 'जर्ब लखनौ' अर्थात लखनौ टकसाल मुद्रित रहता था। लखनौ या लखनऊ का यह सबसे पुराना प्रमाण है। इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए भी यह पुस्तक-श्रृंखला सहयोगी है। नवाबों के शासनकाल में बंगाली समुदाय लखनऊ आया और धीरे-धीरे यहाँ बंगाली संस्कृति का विकास होने लगा। यहाँ दुर्गा पूजा को भी विशेष महत्व मिला। इन छोटी-छोटी पुस्तकों से नवाबों से पहले का लखनऊ दर्शन भी होता है।

भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने लखनऊ पर जो असर डाला, उन पर भी इन पुस्तकों में प्रकाश डाला गया है। मेरठ विद्रोह के परिणामस्वरूप दिल्ली और लखनऊ के क्रांतिकारियों में भी जोश भर गया। लखनऊ से इस विद्रोह का नेतृत्व वीरांगना बेगम हजरत महल ने किया, जिनकी वीरता का विस्तारपूर्वक उल्लेख लेखक रौशन तकी ने 'हमारा लखनऊ' पुस्तकमाला के पंचम पुष्प में किया है। इस क्रांति को लखनऊ से बहुत बल मिला। जब ब्रिटिश अधिकारी दिल्ली छोड़ लखनऊ में शरणागत हो गए तब अवध के सभी तालुकेदारों ने अपनी-अपनी सैन्य टुकड़ियाँ भेज कंपनी की फौजों की नाक में दम कर दिया। साथ ही, इन पुस्तकों में वर्ष 1925 में घटित ऐतिहासिक 'काकोरी कांड' का वर्णन क्रांतिवीर मन्मथ नाथ गुप्त के शब्दों में प्रस्तुत किया गया है जो उस घटना को अंजाम देने में शामिल थे। उन्होंने अपने संस्मरण में लखनऊ से काकोरी स्टेशन तक के पल-पल का विवरण दिया है कि कैसे उनके साथियों ने रेलगाड़ी की जंजीर खींची और अँधेरा हो जाने पर गार्ड को पेट के बल लिटा दिया, कैसे उन क्रांतिवीरों ने सरकारी खजाने के संदूक को ढकेलकर नीचे गिराया और संदूक को छेनी-हथौड़े से खोलने में जुट गए और सरकारी खजाना लूट लिया। लेखक उदय खत्री ने श्रृंखला के 15वें भाग में काकोरी केस में शामिल क्रांतिवीरों का जीवन-परिचय देकर वीरों के इस समर्पण के प्रति आभार प्रकट किया है और उन्हें अपने शब्दों में भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की है। सातवें पुष्प में डॉ. अरूप चक्रवर्ती ने विश्वस्तर पर घटित लखनऊ रेजीडेंसी की किलेबंदी की घटना का विस्तृत वर्णन अपनी पुस्तक में किया है। लेखक रौशन तकी ने 31वें भाग में एक सच्चे शहीद क्रांतिवीर का उल्लेख किया है, जिसने 1857 की क्रांति में अपने प्राणों की आहुति देकर पूरे अवध को ही नहीं, पूरे उत्तर भारत को झकझोर दिया और आमजन में आजादी की लहर पैदा कर दी। यह क्रांतिकारी लखनऊ के आगा मिर्जा कंबलपोश थे, जिन्होंने फिरंगी सरकार को धूल चटाने के लिए अपनी सैनिक वर्दी उतार फेंकी और एक कंबल कंधे पर डाल लिया। इन्होंने अंग्रेजों से भीतरघात के जरिए बदला लिया और पुरानी शाही के सेनानायकों को फिरंगी सेना में भर्ती कराकर उन्हें अंग्रेजों के खिलाफ ही लड़ने के लिए अनुभवी बनाया।

इतिहास के पन्नों को पलटें तो शहर की गंगा-जमुनी तहजीब के दर्शन भी होते हैं। 'हमारा लखनऊ' पुस्तकमाला के 16वें भाग में राजा टिकैतराय के बारे में बताया गया है जिन्होंने हनुमान गढ़ी में नवाब शुजाउद्दौला द्वारा मंदिर के लिए दान दी गई जमीन पर मंदिर-भवन का निर्माण करवाया। उदारवादी सोच और करुणा की मूर्ति राजा टिकैतराय ही थे, जिन्होंने लखनऊ में मस्जिदें, इमामबाड़े भी बनवाए और कई मंदिरों, पुलों आदि का निर्माण भी करवाया। लेखक हेमंत कुमार को इस पुस्तक की रचना की प्रेरणा तब मिली, जब उन्होंने लखनऊ के कायस्थ समाज पर अन्वेषण का कार्य प्रारंभ किया। कायस्थ समाज से ही आने वाले राजा टिकैतराय मिसाल हैं जिन्होंने नवाबों के राजदरबार में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया। इससे पहले भी कायस्थ समाज के लोग अपनी कार्यकुशलता के कारण मुगलों के दरबार में अहम स्थान रखते आए थे। इन हिंदी ओहदेदारों के बारे में खोजकर लेखक हेमंत कुमार ने 39वें पुष्प की रचना की, जिसमें उन्होंने अवध दरबार में हिंदू ओहदेदारों की जानकारी को शासन-काल में विभक्त कर प्रस्तुत किया है। श्रृंखला के 40वें खंड में राम किशोर बाजपेयी ने सर्वजन को सरल, रोचक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से लखनऊ में आर्यसमाज की स्थापना से जुड़ी जानकारियाँ उपलब्ध कराने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक-श्रृंखला से लखनऊ की प्राचीनता के बारे में भी पता चलता है। अवध के नवाबों

के शासनकाल में इस नगर को सबसे ज्यादा प्रसिद्धि मिली। ये नवाब शिया थे, जिनमें 'इमामबाड़ा' नामक संरचना बनाने की परंपरा थी। नवाबों ने नगर को कई इमामबाड़ों से सजाया। लेखक प्रशांत श्रीवास्तव द्वारा रचित 19वें खंड से जानकारी मिलती है कि लखनऊ में नवाबों के पहले के काल की केवल दो ही महत्वपूर्ण इमारतें वर्तमान में हैं—पहली, अवध के नायब सूबेदार कासिम महमूद द्वारा बनवाया 'अकबरी गेट' और दूसरी, औरंगजेब के शासनकाल में बनी औरंगजेब मस्जिद। लेकिन इसके उपरांत नवाबों ने इस शहर में चार चाँद लगा दिए। उन्होंने अद्वितीय महलों, जिनमें दौलतखाना, छतरमंजिल और कैसरबाग का भवन समूह शामिल है, बावलियों, मस्जिदों और इमामबाड़ों का निर्माण करवाया।

लखनऊ में ईसाई धर्म पर डॉ. नरेश सिंह ने प्रकाश डाला है। उन्होंने भारत में ईसाई धर्म के आगमन से चलते उत्तर प्रदेश में धर्म का विस्तार, लखनऊ में ईसाई धर्म और गिरजाघर की परिभाषा समझाते हुए नगर में विलुप्त गिरजाघरों व विद्यमान गिरजाघरों की विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराई है, जिन्हें पढ़कर पाठक अपने बौद्धिक ज्ञान को परिपक्व कर सकते हैं। इन्हीं लेखक ने भारत के पारसी समाज का भी संक्षिप्त परिचय अपने 43वें पुष्प में दिया है। स्वभाव से ही उद्यमी, प्रगतिशील, स्वाभिमानी, परिश्रमी और सूझ-बूझ के धनी इन लोगों के जीवन पर प्रकाश डालने के लिए लेखक ने पारसियों का परशिया से संबंध, पारसियों का भारत आगमन, गुजरात व मुंबई के प्रमुख पारसी समुदाय के व्यक्तियों की जानकारी, होमी जहाँगीर भाभा, दादाभाई पालनजी नौरोजी, सोहराब मोदी आदि सुप्रसिद्ध हस्तियों का जिक्र लेखक ने अपनी पुस्तक में किया है। साथ ही, लेखक ने लखनऊ की खंडहर बनी रेजीडेंसी के इतिहास से भी परदा उठाया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि किस तरह यह रेजीडेंसी अंग्रेजों के लिए महत्वपूर्ण थी। वे इसे अपने गौरव का प्रतीक मानते थे। डॉ. नरेश कपूर ने ही लखनऊ की ऐतिहासिक मड़ियाँव छावनी का 42वें पुष्प में जिक्र किया है, जो 1857 के महासमर में पूर्णतः नष्ट हो गई और जिसके वर्तमान में अवशेष ढूँढ़ पाना भी मुश्किल है तो उसके बारे में स्थानीय लोगों को क्या पता होगा। लेखक की खोजी प्रवृत्ति इस बात का प्रमाण देती है कि उन्होंने इस लुप्त छावनी के संक्षिप्त भूगोल व महत्व को पाठकों के सामने रख दिया है। छावनियों की बात करें तो ले. कर्नल डॉ. गोपाल कृष्ण चतुर्वेदी (से.नि.) तथा डॉ. मधु चतुर्वेदी का संयुक्त प्रयास इस ओर सराहनीय है, जिन्होंने शृंखला के 25वें भाग में लखनऊ की प्रसिद्ध छावनी का इतिहास पाठकों के सामने खोलकर रख दिया है।

ऐतिहासिक इमारतों की बात करें तो लेखक प्रदीप कपूर ने लखनऊ के कॉफी हाउस का इतिहास खोलकर बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने अपने इस सहयोग में कॉफी हाउस की आजादी से पहले और बाद की कहानी के हरेक उस पल का वर्णन किया है जो राजनीतिक और सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण था।

लखनऊ में कला के विकास का विवरण डॉ. शेफाली भटनागर द्वारा रचित दसवें पुष्प में मिलता है। वैसे तो नगर में कला का विकास नवाबों के जमाने में ही शुरू हो चुका था, पर उसका विधिवत् प्रशिक्षण 'गवर्नमेंट कॉलेज ऑफ आर्ट एंड क्राफ्ट' की स्थापना के उपरांत शुरू हुआ। इस पुस्तक में 'स्कूल ऑफ डिजाइन' से लेकर कला एवं शिल्प महाविद्यालय की गतिविधियों और कला, शिक्षा के क्षेत्र में शांति निकेतन आदि से बुलाकर नियुक्त किए गए कलाकारों व उनके शिष्यों की उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

लखनऊ के अपने अंदाज में साहित्य पर भी यहाँ बहुत काम हुआ। यहाँ की लोककथाएँ, जिनका आरंभ अधिकतर 'एक था राजा' कहकर होता है, वास्तव में वह राजा अकसर कोई वास्तविक राजा नहीं होता, वह तो हर घर का एक आम पुरुष होता है, जिसके सम्मान में ये शब्द कहे जाते हैं। इन लोक प्रसिद्ध

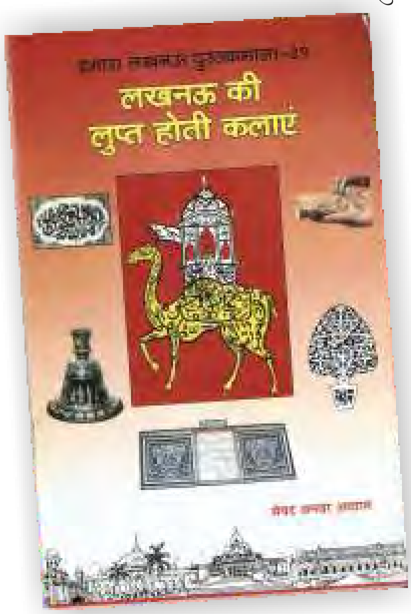

कहानियों, लोक कथाओं को लेखक डॉ. योगेश प्रवीन ने पुस्तकमाला के 30वें खंड में सँजोया है। उर्दू में किसी भाषा के लिखने की विधि को 'रस्म-उल-खत' कहते हैं, जिसे प्रायः 'खत' कहा जाता है और विशिष्ट रूप में खत लिखने का काम 'खत्ताती' कहलाता है। लेखक सैयद अनवर अब्बास ने 29वें खंड में खत्ताती के साथ-साथ तारीख नवीसी, बिद्री, हड्डी पर नक्काशी के काम तथा कंघी बनाने की कला को लखनऊ से जोड़ा है। इस नगर के नवाब शिया थे, इसलिए उनके शासनकाल में 'मर्सिया' जिसे एक विधा कहें तो कोई गलत नहीं होगा, खूब फली-फूली। इस संबंध में पेशे से इंजीनियर सैयद अनवर अब्बास ने श्रृंखला के 23वें खंड की रचना की, जिसमें उन्होंने 'मर्सिया' शब्द का अर्थ और इतिहास बताते हुए करबला की उस मार्मिक घटना से हिंदी पाठकों को परिचित कराया, जो मर्सिया की कथावस्तु का आधार है। शिया समाज पर ही लेखक रौशन तकी ने 'लखनऊ का शिया समाज' खंड लिखा है, जिसमें शिया संप्रदाय पर प्रकाश डालते हुए उनके भारत आगमन, अवध के शिया शासन तथा लखनऊ के शिया समाज का पहनावा, खान-पान, त्योहार, मोहर्रम, इमामबाड़ा, ताजिया, विवाह आदि रस्मों से लेकर समुदाय में अंतिम संस्कार की परंपरा आदि पर गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है।

लखनऊ के शायराना अंदाज को भी 'हमारा लखनऊ' पुस्तकमाला में शामिल किया गया है, जिसे अंजाम तक पहुँचाया है—डॉ. योगेश प्रवीन ने। उन्होंने 13वें खंड में लखनवी शायरी के इतिहास की जो अनुपम भेंट दी है, उसमें बेमिसाल उर्दू की तीन सदी की काव्य-यात्रा को चंद पन्नों में पेश करने का साहस किया गया है। कला क्षेत्र में यहाँ और काम हुए, जिसमें कथक को लखनऊ से दूर रखना मुनासिब न होगा। मुगल काल में धीरे-धीरे अन्य कलाओं के साथ कथक नर्तकों का भी दरबार में प्रवेश हुआ, जिस पर डॉ. विधि नागर ने 18वें पुष्प में प्रकाश डाला है। लखनऊ में कथक की विकास-यात्रा के साथ स्थानीय घराने के प्रख्यात कथक कलाकारों के बारे में अपनी पुस्तक में बताया है। अंत में इन्होंने कथक कलाकारों के कुछ रोचक संस्मरणों को भी शामिल किया है, जिनके बारे में जानकर बुद्धि का विकास तो होता है, साथ ही ये प्रेरणा के स्रोत भी बनते हैं। इस पुस्तकमाला का 11वाँ खंड है, जिसमें लखनऊ के संगीत इतिहास को समेटने का प्रयास

किया गया है। इसमें लेखक राम किशोर बाजपेयी ने चार खंडों में लखनवी संगीत के इतिहास पर से परदा उठाया है, जिसमें उन्होंने नवाबों के युग में कव्वाली-गजल आदि धाराओं का विकास, उनके शासनकाल के बाद के संगीत तथा मैरिस कॉलेज ऑफ हिंदुस्तानी म्यूजिक से भातखंडे संगीत संस्थान विश्वविद्यालय की पृष्ठभूमि को अच्छे से स्पष्ट किया है। श्रृंखला के 17वें खंड में प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित ने लखनऊ के हिंदी कवियों पर किए गए अपने अन्वेषण कार्य को बखूबी निभाया है और सूरदास लखनवी, संत ललकदास, बेनी प्रबीन, बेनी भट्ट, ललितकिशोरी आदि कवियों की संक्षिप्त जानकारी दी है। यही नहीं, साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट योगदान देने वाले मुंशी नवलकिशोर, जिन्हें उनका शहर भूल-सा गया है, उनका जीवन-परिचय, वर्ष 1858 में उनके द्वारा स्थापित 'नवलकिशोर प्रेस' का परिचय 'हमारा लखनऊ पुस्तकमाला' में मिल जाएगा।

इन सबके अतिरिक्त एक पुस्तिका लखनऊ के मोहल्लों और नगर के क्रमिक विकास की कहानी भी बयान करती है। डॉ. योगेश प्रवीन ने अपनी इस पुस्तक में यहाँ मोहल्ले के नामों का राज भी खोला है, साथ में उन्होंने किस मोहल्ले में कौन-से विशिष्ट लोग रहते थे या रहते हैं, वहाँ कौन-कौन-सी घटनाएँ हुईं और उन्हें कैसे प्रसिद्धि मिली, इन सबकी खोज को लेखक ने छोटी-सी पुस्तक के रूप में बाँधा है। इसी क्रम में इंदर चंद तिवारी जी का प्रयास रहा है, जिन्होंने लखनऊ में रहते हुए अपने बचपन से जवानी, और इससे आगे तक का आँखों देखा हाल पुस्तकमाला के 26वें भाग में लिखा है।

लखनऊ के इतिहास, भूगोल, संस्कृति, कला, संगीत, सिनेमा, विज्ञान, रहन-सहन, खान-पान आदि के बारे में जानने के लिए हिंदी वाङ्मय निधि की यह पुस्तकमाला पूरे देश के लिए एक उदाहरण है कि यदि लेखक जागरूक होकर कार्य करें तो अपने मूल स्थान के आधुनिकता की आँधी में बिखर रहे पन्नों को सहेजा जा सकता है, ताकि देश का हर नागरिक अपने क्षेत्र की स्थानीयता के भाव से वंचित न रहे और देश का हर स्थान बौद्धिक विकास में कारगर साबित हो।

(हिंदी वाङ्मय निधि, लखनऊ की ओर से डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल संस्कृति संस्थान, लखनऊ से प्रकाशित 'हमारा लखनऊ पुस्तकमाला' पर आधारित)

भारतीयता के आख्याता गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास भारतीयता के समग्र कवि हैं। उनके काव्य में भारतीय संस्कृति अपने श्रेष्ठतम रूप में विद्यमान है। उनकी रचनाओं में यह वायवी न होकर जीवंत रूप में उपस्थित है। अपने उदात्त जीवन मूल्यों और 'वसुधैव कुटुंबकम' जैसे आदर्शों के चलते समूचा विश्व इस संस्कृति की महानता को स्वीकारता है। कला और साहित्य के विविध रूपों में यह सांस्कृतिक वैभव विद्यमान है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदास इसी युग के रचनाकार हैं। राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से यह संकट और अत्याचार का समय था। इस युग में सामान्य जन का जीवन अत्यंत कष्टपूर्ण था। गोस्वामी जी इस ओर

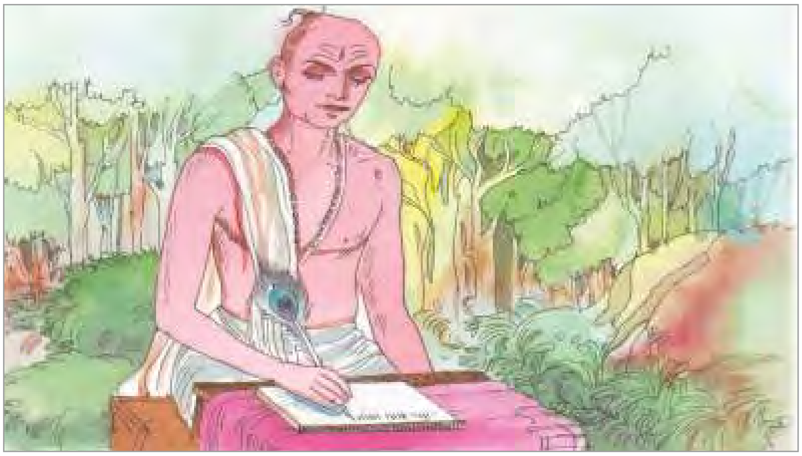

संकेत करते हैं—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी
जीविका विहीन लोग सिद्धमान, सोच बस,
कहैं एक एकन सो 'कहाँ जाई, का करी?'

विदेशी आक्रांताओं के अत्याचारों से पराभूत भारतीय मानस को तुलसी आस्था, आत्मविश्वास तथा रामराज्य की संजीवनी देकर उसमें नव चेतना का संचार करते हैं।

इस रामराज्य में—

दैहिक दैविक भौतिक तापा
रामराज काहू नहिं व्यापा।
वैर न करहि काहू सन कोई
राम प्रताप विषमता खोई।

तुलसीदास की यह रामकथा, मध्यकाल के उस कठिन और दारुण समय में त्रस्त, तप्त और निराश हृदय को शीतलता प्रदान करती है।

तुलसीदास का जन्म श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी को माना जाता है। उनका जीवन अत्यंत संघर्षपूर्ण रहा, चाहे वह बाह्य संघर्ष हो या आंतरिक संघर्ष। वे स्वयं कहते हैं—

जाके कुल मंगल, बधावन बजायो, सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे ते ललात, बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल, चारि ही चनक को।

गोस्वामी जी ने 'नाना पुराण निगमागम' के अवगाहन से प्राप्त ज्ञान को जनभाषा के माध्यम से लोक को समर्पित किया। वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। इस संदर्भ में उनका अवधी में रचना करना, तत्कालीन परिस्थितियों में विशेष महत्व रखता है।

गोस्वामी तुलसीदास 'स्वांतः सुखाय' काव्य रचना करते हैं, किंतु उसमें लोक मंगल की भावना सन्निहित है।

तुलसीदास ने विपुल साहित्य सृजन किया है, किंतु उनकी अधिकांश रचनाओं में राम गुण का गायन ही है—

रावरो कहावों राम
गुण गावों रावरेई

डॉ. ऋतु

शिक्षा : एम.ए., पीएच.डी. (हिंदी), जनसंचार में डिप्लोमा।

संप्रति : अध्यापन दिल्ली विश्वविद्यालय।

लेखन : मध्यकालीन भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन में विशेष रुचि, पत्र-पत्रिकाओं में लेख।

संपर्क : मोबाइल— 7982126763

ई-मेल : ritushruti11@gmail.com

आचार्य रामचंद्र शुक्ल गोस्वामी तुलसीदास के महत्व को इन शब्दों में रेखांकित करते हैं, "हिंदी साहित्य क्षेत्र में रामभक्ति का परम उज्ज्वल प्रकाश विक्रम की 17वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गोस्वामी तुलसीदास की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ।"

यह रामचरित अत्यंत पावन है जो मंगलकारी है और अमंगल का हरण करने वाली है—

मंगल भवन, अमंगल हारी
द्रबहु सु दसरथ अजिर बिहारी।

रामचरितमानस यदि श्रीराम के 'दिव्य चरित' का सागर है तो विनय पत्रिका 'आत्म निवेदन की पाती' और कवितावली 'राम कथा का संक्षिप्त रूप'। तुलसीदास की रचनाओं का अनेक विदेशी और भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

संस्कृति किसी भी राष्ट्र के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह उसकी अस्मिता का प्रतीक है। संस्कृति सामूहिक चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति है। दूसरे शब्दों में हम इसे 'राष्ट्र की आत्मा' कह सकते हैं। समन्वय भारतीय संस्कृति की महती विशेषता है, इसमें अतिवाद का निषेध है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस समन्वय भाव को तुलसीदास के काव्य में रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि उनका 'काव्य समन्वय की विराट चेष्टा' है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, अपितु गृहस्थ और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का सुंदर योग है।

'चरैवेति-चरैवेति' इस संस्कृति का प्रमुख गुण है। तभी तो अनेक संप्रदाय और दर्शन इस संस्कृति में एक साथ विद्यमान हैं। हम सत्य को अनेक आयामों से शोधते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने इसी समन्वय भावना का उपयोग कर भव्य रामचरितमानस की कल्पना की। डॉ. वी.एन. फिलिप के अनुसार, रामचरितमानस वैशिष्ट्य—'तुलसीदास कृतभक्ति संवर्धक रामचरितमानस के सम्मुख मध्यकालीन हिंदी साहित्य में विरचित अन्य सभी राम काव्य नगण्य हो जाते हैं।'

उन्होंने युग बोध और जनसामान्य की मनःस्थिति को भाँपकर रामकथा का निरूपण किया।

तुलसी के राम शील, सौंदर्य एवं शक्ति से समन्वित हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं जिनका उदात्त चरित्र आदर्श है। ऐसे त्यागी, मर्यादा पुरुषोत्तम और धर्म आचरण करने वाले चरित्र किसी भी युग की आकांक्षा हैं। धर्म किसी भी संस्कृति का प्रमुख तत्व है और तुलसी धर्म को परोपकार एवं सत्य की कसौटी पर इस तरह कसते हैं—

परहित सरिस धर्म नहीं भाई
...
धरमू ना दोसर सत्य समाना

धर्म का यह वह रूप है जो सहज-सरल है और जनसामान्य के लिए सहज एवं ग्राह्य भी। श्रीराम के सभी कार्य मानवता के उत्थान और धर्म रक्षा हेतु ही तो हैं—

निसिचर हीन करउ महि,
भुज उठाई पन कीन्ह

वैयक्तिक सुख, स्वार्थ और इच्छा के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है।

अपने युग की विसंगतियों और मूल्य विघटन से तुलसीदास खिन्न थे। उन्होंने रामकथा के माध्यम से आदर्श समाज की परिकल्पना की—

नहिं दरिद्र कोउ, दुखी न दीना
नहिं कोउ अबुध, न लछन हीना।

इस रामराज्य में व्यक्ति एवं समाज का आचरण सत्य, त्याग, प्रेम, मैत्री व परस्पर सहयोग पर आधारित है। दरअसल 'मानस में जिस समाज का आदर्श रखा गया है, उसमें वर्ग है—उसमें बड़े और छोटे लोग हैं, राजा और प्रजा है, ब्राह्मण और शूद्र हैं, पर उनमें किसी प्रकार का संघर्ष नहीं है। सभी अपनी मर्यादा समझते हैं।'

इसमें प्रजातंत्र को भी बीज रूप में देखा जा सकता है।

जहाँ लोकमत का सम्मान होता है। तुलसीदास ने राजा के कर्तव्य को कितने सरल शब्दों में बताया है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

जहाँ राजा, प्रजा को निडर होकर अपनी आलोचना करने की भी स्वतंत्रता देता है। इससे उदार शासन भला और क्या होगा—

जो अनुचित कछु भाखों भाई
तो मोहि बरजेहु भय बिसराइ।

“रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने अनेक आदर्श चरित्रों का सृजन किया है जिनका अनुकरण मनुष्य को देवत्व की ओर ले जा सकता है। अनुकरणीय पुत्र, राजा, पिता, पत्नी, भाई, सेवक, मित्र एवं भक्त।

अंत में हम कह सकते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के अनेक तत्व समाहित हैं। राम कथा के वैश्विक प्रसार और उसके विविध रूपों के विषय में डॉ. प्रेम शंकर कहते हैं, “केवल देश ही नहीं, अपितु जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति का प्रवेश हुआ वहाँ राम की कथा भी किसी-न-किसी रूप में प्रचलित रही है।” ”

तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव की है। वे श्रीराम के शरणागत हैं एवं उनकी मान्यता है कि—

सेवक सेव्य भाव बिनु
भव न तरिअ उरगारि।

तुलसी के आराध्य मात्र सात्विक भाव एवं निश्चल प्रेम से ही भक्तों का उद्धार कर देते हैं।

तुलसी के युग में हिंदू धर्म के भीतर अनेक संप्रदाय प्रचलित थे—शैव, शाक्त एवं वैष्णव आदि। उनके अनुयायियों में स्पर्धा का भाव भी था। गोस्वामी जी ने राम और शिव को एक-दूसरे का प्रिय बताकर इनके मध्य समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है, उन्होंने राम से कहलवाया—

शिव द्रोही, मम दास कहावा
सो नर मोहि सपनेऊ नहिं भावा।

इसी प्रकार निर्गुण व सगुण मतावलंबियों के बीच के मतभेद को भी उन्होंने ईश्वर एक है, बताकर दूर किया—

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा

गोस्वामी जी व्यष्टि और समष्टि जीवन के सुचारु रूप से चलने के लिए वर्णाश्रम के आदर्श रूप के पक्षधर हैं।

बरनाश्रम निज निज धरम
निरत बेद पथ लोग।

वहाँ भी गुणवान ही महत्वपूर्ण है, गुणहीन नहीं। रामचरितमानस में भी भील, किरात व वनवासी जन अपने आचरणगत शुचिता के कारण दिव्यता को प्राप्त करते हैं। संपूर्ण तुलसी साहित्य अनीति और अधर्म के विरुद्ध नीति एवं धर्म की विजय का उद्‌घोष है। राम और रावण का संघर्ष भी यही है। यह प्रवृत्तिगत है। यह सत्य व असत्य वृत्ति के बीच है। वैयक्तिक नहीं है।

रामकथा की सबसे बड़ी घटना राम-रावण का संघर्ष भी यही है।

रावण सभी भौतिक संपदा के होते हुए भी धर्म के विरुद्ध है। वह रथ पर युद्ध करने आया है और राम ‘बीरथ’ हैं। यह देख विभीषण अधीर हो उठते हैं। उनमें राम के विजय के प्रति संशय होने लगता है। तब श्रीराम उन्हें ‘धर्ममय रथ’ को विस्तार से समझाते हैं। तुलसीदास इस प्रसंग के द्वारा तत्कालीन युग में जनसामान्य एक विशेष संदेश भी देते हैं।

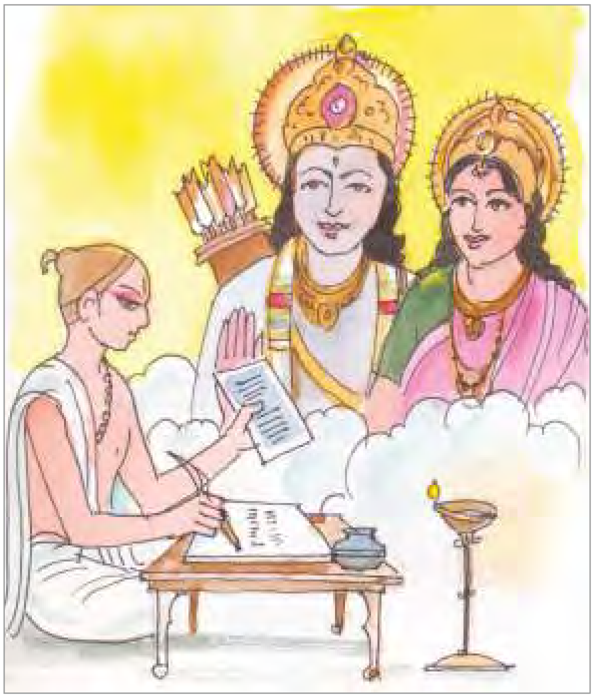

रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने अनेक आदर्श चरित्रों का सृजन किया है जिनका अनुकरण मनुष्य को देवत्व की ओर ले जा सकता है—अनुकरणीय पुत्र, राजा, पिता, पत्नी, भाई, सेवक, मित्र एवं भक्त।

अंत में हम कह सकते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के अनेक तत्व समाहित हैं। राम कथा के वैश्विक प्रसार और उसके विविध रूपों के विषय में डॉ. प्रेम शंकर कहते हैं, “केवल देश ही नहीं, अपितु जहाँ-जहाँ भारतीय संस्कृति का प्रवेश हुआ वहाँ राम की कथा भी किसी-न-किसी रूप में प्रचलित रही है।”

गोस्वामी तुलसीदास का साहित्य उदात्त भारतीय जीवन मूल्यों का अक्षय कोष है। मानव जाति संकट और संघर्ष के क्षणों में निरंतर इससे प्रेरणा प्राप्त करती रहेगी।

महाराष्ट्र के कोंकण की लोक कलाएँ एवं संस्कृति

महाराष्ट्र भारतीय संघ राज्य का तीसरा बड़ा एवं महत्वपूर्ण राज्य है। देश के पश्चिमी तट पर बसा यह प्रदेश कई दृष्टियों से अनुपम है। यह संतों, शिक्षाविदों, समाज सुधारकों और क्रांतिकारियों की भूमि मानी जाती है। यहाँ की 'संत, पंत, तंत' की परंपरा अर्थात संतों ने भक्ति रस से, पंतों ने अपने आख्यानों से, तो तंतों (शाहिरों) ने लोक संस्कृति के माध्यम से इस भूमि को पावन किया है। संतों की श्रेणी में ज्ञानेश्वर, तुकाराम, समर्थ रामदास, एकनाथ महाराज, जनाबाई, बहिणाबाई तथा पंतों की श्रेणी में मुक्तेश्वर, वामन, श्रीधर, मोरोपंत इत्यादि एवं शाहिरों की श्रेणी में आगीनदास, तुलसीदास, परशुराम, होनाजी-बाळा, अनंत फंदी, रामजोशी, सगन भाऊ जैसे सैकड़ों नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने लोक साहित्य और लोक संस्कृति की नींव रखी। उसके बाद यह विरासत सदियों से चली आ रही है। यहाँ के शाहीर चार लाइन के पोवाड़ा गीत में महाराष्ट्र का परिचय कुछ इस प्रकार से देते हैं—

वरून रांगडा, कणकर काळा
ओबड-धोबड मातीचा
अंतरात परी संत नांदतो
बोल सांगती बोलाचा
हो रामा हो जी...हो रामा हो जी...

अर्थात ऊपर से कठोर, काला, ऊबड़-खाबड़ नजर आने वाले इस प्रदेश के अंतरंग में संतों का वास है, जिनकी अमर वाणी यहाँ गूँजती है।

वैसे तो सारी सृष्टि ताल और नाद से व्याप्त है, जिससे 'लोक' का बीजांकुरण हुआ है और यह प्रकृति का अभिन्न अंग है। इससे सामूहिक जीवन पद्धति विकसित हुई है। इस लोक संस्कृति से मनुष्यों ने काफी कुछ लिया है और अपने आपको सुसंस्कृत बनाने की प्रक्रिया में अग्रसर रहा है। महाराष्ट्र के तमाम प्रांतों की लोक संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन, बोली-भाषा, परिधान इत्यादि में कुछ समानताएँ हैं, तो कुछ भिन्नताएँ भी हैं। एक कहावत है—'कोस-कोस पर पानी बदले, चार कोस पर वाणी'। लोक संस्कृति का लिखित इतिहास यहाँ भी नहीं मिलता, जो है वह सब मौखिक और परंपरागत रूप से चली आ रही परंपराएँ हैं।

महाराष्ट्र के पश्चिमी तट पर बसा कोंकण अपनी प्राकृतिक सुंदरता, समुद्री तटीयता और पर्वतीय घाटियों के लिए विशेष रूप से जाना जाता है, जो कभी 'परशुराम क्षेत्र' भी कहलाता था। मुंबई जैसे बड़े बंदरगाह का इसमें समावेश है। मुंबई,

डॉ. रमेश यादव

जन्म : 07 जून, 1962, मुंबई।

संप्रति : साहित्यकार एवं स्वतंत्र पत्रकार, विशेष कार्यकारी अधिकारी एसईओ-महाराष्ट्र प्रशासन।

प्रकाशन : विविध विधाओं में कुल दस पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान : उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा राष्ट्रीय स्तर का सौहार्द सम्मान, विश्व हिंदी सचिवालय (मॉरिशस) द्वारा कविता का प्रथम पुरस्कार, गुणवंत कामगार पुरस्कार (महाराष्ट्र सरकार), कई अन्य संस्थाओं द्वारा 150 से अधिक सम्मान एवं पुरस्कार।

संपर्क : मो.— 9820759088, 7977992381
ईमेल— rameshyadav0910@yahoo.com

ठाणे, रत्नागिरी, रायगड़, सिंधुदुर्ग जैसे जिलों में व्याप्त, 3907 वर्गमील क्षेत्रफल में फैले इस प्रांत को 'भारत का कैलिफोर्निया' भी कहा जाता है। प्राकृतिक छटाओं के साथ-साथ इसे ऐतिहासिक किलों, जंगली भू-भाग, प्राचीन मंदिरों, रमणीय स्थलों तथा नदियों का भी वरदान प्राप्त है। यहाँ मुख्य रूप से आम, काजू, नारियल, सुपारी, कटहल, केला, कोकम इत्यादि के बागद-बगीचे बड़े पैमाने पर देखे जा सकते हैं। इसके अलावा चावल की भी खेती की जाती है। समुद्री किनारों पर बसे लोग मत्स्य व्यवसाय करते हैं। यहाँ के प्रसिद्ध हापूस आमों का निर्यात बड़े पैमाने पर होता है।

कोंकण की मुख्य भाषा मराठी है। कोकणी इसी मराठी की उपबोली है। यहाँ के निवासियों को 'कोकणी' कहकर पुकारा जाता है। ग्राम देवता एवं कुल देवता के प्रति यहाँ के लोगों में अपार श्रद्धा होती है। कोकणी लोगों के स्वभाव को लोग कटहल की उपमा देते हैं। कटहल का फल ऊपर से कँटीला होता है, मगर अंदर से मीठा होता है। उसी तरह कोकणी लोग भी बाहर से कँटीले जरूर नजर आते हैं, मगर भीतर से बड़े प्यारे होते हैं। नारियल की भी उपमा इन्हें दी जाती है। गोवा और कर्नाटक दो तटीय राज्य इससे जुड़े हैं, इसलिए इन दोनों प्रदेशों की कुछ-कुछ लोक संस्कृतियाँ आपस में मिलती-जुलती हैं।

यहाँ की लोक कलाओं में मुख्य रूप से दशावतार, शिमगो, गोपाल काला, भजनी बारी, सोंगी भजन, कीर्तन, पोवाडा, नमन, फाग, बहुरूपिया, भाट, लळीत, गोंधळ, भारूड़ इत्यादि का समावेश

किया जाता है। लोक नृत्यों में जाखड़ी नृत्य (बाल्या नृत्य), कोली नृत्य, गौरी-गणपति नृत्य, काठखेळे, कुणबी नृत्य, लेझिम, राधा नाच इत्यादि का समावेश होता है। आदिवासी नृत्यों में वारली नृत्य, भिल्ल नृत्य, मुखौटा नृत्य, तारपा नृत्य, गोंडी नृत्य इत्यादि का समावेश है।

यहाँ की महिलाओं द्वारा खेले जाने वाले खेल-नृत्य एवं लोक गीतों की भी बड़ी प्राचीन परंपरा है। जैसे कि श्रम गीत, जांता फेरते या अनाज कूटते वक्त गाए जाने वाले 'ओवी' गीत, श्रावण मासी गीत, अभंग इत्यादि की विशेष परंपरा है। इसी तरह उत्सवी खेल जैसे भोंडला, हादगा, फेर नृत्य, फुगडी, झिम्मा, पिंगा इत्यादि महिलाओं के खेल भी काफी लोकप्रिय हैं।

लोक रंगभूमि के तहत दशावतार, कळसूत्री बाहुल्या, गोपाल काला, शिमगो, चित्रकथी इत्यादि का समावेश है। इन लोक कलाओं को पेश करने के लिए अलग-अलग पहनावे, गीत-संगीत और ताल वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। वाद्यों में मुख्य रूप से हार्मोनियम, ढोलकी, इकतारा (तुणतुणे), दुक्कड (संबल), मंजिरी, मजीरा (टाळ), डफ, डमरू, खंजरी, शंख, सारंगी, तंबोरा, तुरही, तबला, ढोल-तासा, मृदंग, डफली, शहनाई, करताल इत्यादि वाद्यों का प्रयोग विविध लोक कलाओं के अनुरूप किया जाता है। इनमें से कुछ प्रमुख लोक कलाओं की संक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार से है–

गोपाल काला : गोपाल काला यह लोक नृत्य और लोक उत्सव का एक प्रकार है, जिसमें भगवान कृष्ण के जन्मदिन के अवसर पर उनकी लीलाओं को प्रस्तुत किया जाता है। इस उत्सव का विशेष महत्व है जो लगभग हर गाँव में छोटे-बड़े पैमाने पर लोकोत्सव के रूप में मनाया जाता है। नृत्य के दौरान कलाकार हाँडी (मटकी) को तोड़ता है और नर्तकियों के ऊपर दही का छिड़काव करता है। इसके बाद कुछ नर्तक नृत्य-युद्ध करते हैं और अस्त्र-शस्त्र भाँजते हुए अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। नृत्य के इस रूप में ताल का आकर्षण और महत्व अधिक होता है। मुंबई में इसे 'दही हंडी' कहते हैं।

शिमगा : होली के अवसर पर किया जाने वाला उत्सव 'शिमगा' कहलाता है। पहले दिन होलिका दहन और दूसरे दिन रंग पंचमी के रूप में मनाया जाता है। इस अवसर पर पालकी उत्सव का आयोजन किया जाता है जिसमें कुल देवता, ग्राम देवता और होली के पूजन की प्रथा है। परंपरा के अनुसार, खेळे कलाकार अपनी विविध कलाओं का प्रदर्शन करते हैं और रात्रि के समय भजन कीर्तन का आयोजन किया जाता है। कुछ प्रांतों में इसे 'फाग' भी कहते हैं। गोवा से सटे गावों में कला के दौरान एक विशेष प्रकार का वाद्य प्रयोग किया जाता है जिसे 'घुमटाचा फाग' कहते हैं।

कोली नृत्य : महाराष्ट्र का यह प्रचलित लोक नृत्य है। यह नृत्य मछुआरों द्वारा विशेष अवसरों पर किया जाता है। मछुआरों को महाराष्ट्र में 'कोली' नाम से संबोधित किया जाता है। कोलियों को उनके नृत्य और अपनी मुक्त जीवन-शैली के लिए जाना जाता है। इन

मछुआरों का मुख्य पेशा मत्स्य व्यवसाय है। जब वे अपने काम से मुक्त होते हैं या विशेष उत्सवों के अवसर पर समुद्र देवता की पूजा करते हैं और तत्पश्चात कोळी नृत्य करते हैं। इनमें हर वर्ग के स्त्री-पुरुषों का समावेश होता है। इस लोक कला का प्रदर्शन मुंबई के साथ-साथ कई हिंदी-मराठी फिल्मों में भी देखने को मिलता है।

बहुरूपी : बहुरूपी अर्थात जो ग्रामीण लोगों के मनोरंजन के लिए कई रूप धारण करते हैं और उनको अध्यात्म से जोड़ने का प्रयास करते हैं। ये कलाकार आशु रचनाकार होते हैं। नाचते-गाते गाँव-गाँव भटकते हैं तथा लोगों का मनोरंजन करते हैं। लोगों की नकल उतारना, व्यंग्य या तंज कसना, पशु-पक्षियों की आवाज निकालना इत्यादि इस कला के मुख्य अंग हैं। गीतों के शब्द बड़े सरल होते हैं, जिसे ये आम बोलचाल की भाषा में प्रस्तुत करते हैं। संत तुकाराम के पदों में इसका वर्णन मिलता है। शिवाजी महाराज के दरबार में 'बहिर्जी नाईक' नामक बड़ा ही होनहार और गुणी बहरूपिया था।

सोंगी भजन (चक्री भजन) : सोंग अर्थात स्वाँग रचना या नकल उतारना। व्यंग्यात्मक शैली की यह मनोरंजन की कला है जो नृत्य, गीत और कथा के माध्यम से प्रस्तुत होती है। किसी विषय विशेष को लेकर खिल्ली उड़ाना ही 'सोंगी भजन' कहलाता है। वैसे तो सोंगी भजन की परंपरा महाराष्ट्र के कई जिलों में है, मगर पश्चिम महाराष्ट्र अर्थात कोंकण में यह बहुत ही लोकप्रिय है। कथाएँ सामाजिक या पौराणिक होती हैं जैसे—रामायण, महाभारत, भागवत इत्यादि के साथ-साथ एक चतुर नार बड़ी होशियार, भोंदू भगत, चिक्कू मारवाड़ी, गाँव भवानी जैसे सामाजिक विषयों पर भी अच्छी नृत्य-नाटिकाएँ प्रस्तुत की जाती हैं।

दशावतार : कोंकण में दशावतार सबसे लोकप्रिय कला है जिसकी चार-पाँच सौ साल की समृद्ध एवं प्राचीन परंपरा है।

पौराणिक कथाओं के अनुसार भगवान ने धरती पर अपने दस अवतारों के माध्यम से जो लीलाएँ की हैं, उसी को लोकनाट्य के रूप में प्रस्तुत करना ही दशावतार है। गोवा में भी यह बहुत लोकप्रिय है। बाँस की बनी एक बड़ी-सी पेटी होती है, जिसे ये कलाकार 'पेटारा' कहते हैं। इस पेटारा में नाटक में लगने वाली सामग्री होती है। गाँव की जब जत्रा (मेला) होती है, तब पालकी निकाली जाती है। पालकी के बाद दशावतार नाट्य प्रारंभ होता है।

वासुदेव : यह भी एक प्राचीन कलाविष्कार है। सदियों से वासुदेव नृत्य नाट्य करता आ रहा है। वह धर्म को मानता है और लोक प्रशिक्षण का कार्य अपने उपदेशों से करता है। अपने विशेष परिधान में बहुरूपिया की तरह वासुदेव गाँवों में लोगों के घर-आंगन तक जाता है और धर्म तथा नीति की बातें बताते हुए अध्यात्म से परिचय करवाता है। सुबह-सुबह वासुदेव को देखकर महिलाएँ प्रसन्न हो जाती हैं क्योंकि उनके पूजा-पाठ, व्रत, शुभ-तिथि, त्योहार इत्यादि की जानकारी वासुदेव देता है।

गोंधळ : मराठी जीवन-शैली में गोंधल का अपना विशेष महत्व है। परिवार में नई शादी या अन्य महत्वपूर्ण कार्य के उपलक्ष्य में गोंधळ आयोजन की परंपरा काफी रूढ़ है। यह उत्सव और पूजा की एक विधि है जिसके माध्यम से परिवार का कुलाचार निभाया जाता है। इसमें तैंतीस कोटि देवी-देवताओं की आराधना और आह्वान किया जाता है। इस विधि को संपन्न कराने वाले पुरोहित को 'गोंदळी' कहा जाता है। नृत्य, नाटक, गीत-संगीत और वाद्यों के माध्यम से यह कला संपन्न होती है।

नमन : नमन अर्थात ईश्वर का वंदन। इसके द्वारा आराध्य देवता की विधिवत पूजा और आह्वान किया जाता है। नृत्य करने वाले कलाकारों को 'खेळे' कहा जाता है। इसके दो चरण होते हैं—पूर्व रंग और उत्तर रंग। पहले चरण में गणेश जी का आगमन होता है और उनकी विधिवत पूजा और प्रार्थना की जाती है। कुल आठ-दस कलाकार होते हैं जो परंपरागत वेशभूषा में नृत्य करते हुए गीत गाते हैं। इसे 'नमन खेळे' भी कहते हैं।

भजन-कीर्तन : महाराष्ट्र में भजन-कीर्तन की बड़ी समृद्ध परंपरा है। इस माध्यम से ईश्वर की आराधना और लोगों में आध्यात्मिक भाव तथा जनजागृति पैदा करने का प्रयास किया जाता है। गाँव में रात्रि के समय विशेष अवसरों पर या उत्सवों के दौरान भजन-कीर्तन

के आयोजन की परंपरा है। भजनों के भी कई प्रकार हैं, जैसे—डबलबारी भजन और भजनी झगड़े। ये दो प्रकार काफी प्रचलित हैं जिनके द्वारा भक्ति, अध्यात्म के साथ-साथ दर्शकों का मनोरंजन भी किया जाता है। इस विधा में महाराष्ट्र की महिलाएँ काफी आगे हैं। आषाढ़ी एकादशी के अवसर पर वारकरी कीर्तनकारों की परंपरा तो पूरे विश्व में मशहूर है। संत गाडगे महाराज को राष्ट्रीय कीर्तनकार का दर्जा प्राप्त है जिन्होंने कीर्तन के माध्यम से स्वच्छता का अभियान चलाया।

चित्रकथी : यह कला अब नाममात्र के लिए शेष रह गई है क्योंकि इसे प्रस्तुत करने वाले कलाकारों की पीढ़ियाँ अब नहीं रहीं। चित्रों को दिखाकर कथा-कहन की यह कला है। कथा कहने वाला कलाकार वाक्पटुता में निपुण होता है, जो कथा को गीत के माध्यम से पेश करता है। चित्रों की निर्मिति लोक शैली के आधार पर की जाती है। मनोरंजन और लोगों का प्रबोधन ही इस कला का मुख्य उद्देश्य होता है।

वारली कला : वारली कला चित्र कलाकृति का एक प्रकार है। त्रिकोण आकृतियों में ढले आदमी और जानवरों के चित्र बड़े आकर्षक होते हैं। बिंदु और रेखाओं से बने इन चित्रों की बड़ी मान्यता है। इसमें सीधी रेखा कहीं नजर नहीं आती। बिंदु से बिंदु ही जोड़कर रेखा खींची जाती है। इन्हीं के सहारे आदमी, प्राणी और पेड़-पौधों की सारी गतिविधियाँ प्रदर्शित की जाती हैं। विवाह प्रसंग के दृश्य, स्त्री-पुरुष, बच्चे, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और खेत-खलिहान इत्यादि इन कलाकृतियों के विषय होते हैं। इन कलाकृतियों को गोबर-मिट्टी से लेपी हुई सतह पर चावल के आटे को पानी में मिलाकर घोल बनाया जाता है जिसके सहारे ये चित्र बनाए जाते हैं।

उपरोक्त लोक कलाओं के अलावा कोंकण में पोवाड़ा, लावणी, भारूड़, तमाशा जैसी लोक कलाएँ भी आधुनिक समय में मनोरंजन, समाज प्रबोधन के तहत लोकोत्सव के दौरान प्रस्तुत की जाती हैं। यहाँ इनका प्रचलन अधिक नहीं है, मगर महाराष्ट्र के अन्य प्रांतों में इनकी विशेष महत्ता है। इनकी संक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार से है—

पोवाड़ा : मराठी शाहिरी की कई धाराओं में से जो दो मुख्य धाराएँ हैं, वे हैं—पोवाड़ा और लावणी। मुख्यतः लावणी श्रृंगार रस है तो पोवाड़ा वीर रस में गाने की परंपरा है। इन्हें प्रस्तुत करने वाला कलाकार 'शाहीर' कहलाता है। पोवाड़ा में गद्य और पद्य दोनों का समावेश होता है अतः इसे 'चंपू काव्य' भी कहते हैं। शिवाजी महाराज के शासनकाल में, देश के स्वतंत्रता संग्राम में, संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन, गोवा मुक्ति आंदोलन, सीमा मुक्ति आंदोलन, कपड़ा मिलों की हड़ताल इत्यादि में शाहिरी के डफ का डंका बजा और बड़ी क्रांतियाँ हुईं। इसका मुख्य उद्देश्य जन-जागरण और समाज प्रबोधन होता है।

लावणी : लावणी नृत्य, गायन और अदा की कला है। यह स्वतंत्र रूप से या फिर तमाशा मंचों से पेश की जाती है। लावणी को

'मराठी लोक कलाओं की रानी' कहा जाता है। लावणी के कई प्रकार हैं, पर मुख्यतः बैठकीची लावणी और ढोलकी फड़ाची लावणी प्रसिद्ध हैं। लावणी नृत्य कुछ-कुछ कत्थक से मेल खाता है। बैठकीची लावणी बैठकर दीवान खानों में या दरबारों में पेश की जाती है। इसमें अदा महत्वपूर्ण होती है। इस गायन में शास्त्रीय संगीत का पुट होता है। ढोलकी फड़ाची लावणी तमाशा मंचों पर खुले मैदान में हजारों श्रोताओं के बीच प्रस्तुत होती है।

भारूड़ : भारूड़ प्राचीन एवं समृद्ध लोक परंपरा है। इसके भी दो मुख्य प्रकार हैं—भजनी भारूड़ और सोंगी भारूड़। इसके दो पक्ष होते हैं। एक वाच्यार्थ और दूसरा लक्ष्यार्थ अर्थात बिंब-प्रतिबिंब। संत काव्यों में इसे 'रूपके' कहा जाता है। संत नामदेव, एकनाथ और ज्ञानेश्वर जैसे संतों ने लोक प्रबोधन हेतु भारूड़ों की रचनाएँ की हैं। गोरखनाथ जी को प्रथम भारूड़कार माना जाता है और संत नामदेव को आद्य भारूड़कार। हिंदी में कबीरदास जी ने भी कई भारूड़ गीत लिखे हैं। संत एकनाथ जी ने 350 से अधिक भारूड लिखे उनमें से 75 भारूड़ हिंदी में लिखे हैं। इसका उद्देश्य मनोरंजन के माध्यम से समाज प्रबोधन होता है।

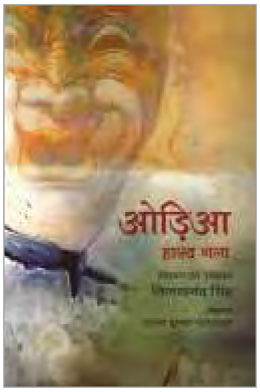

ओड़िआ हास्य गल्प

समीक्षक : **रमेश कुमार सिंह**
संचयन और संपा. : **विजयानंद सिंह**
अनुवाद : **अजय कुमार पटनायक**
प्रकाशक : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली-110070
पृष्ठ : 304
मूल्य : रु. 310/-

'ओड़िआ हास्य गल्प' पुस्तक में ओड़िया की 50 अनूदित हास्य रचनाएँ संकलित हैं। अधिकतर रचनाओं में ओडिशा के लोकरंग और लोकमन की झलक है। पुस्तक की भूमिका में हास्य के महत्व और ओड़िया हास्य साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के अंत में शामिल रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय भी है।

हँसना स्वस्थ मन का लक्षण है और यह स्वस्थ तन के लिए भी आवश्यक है, लेकिन जीवन की आपाधापी में आज हास्य का अभाव होता जा रहा है। हास्य रस वाला साहित्य इस कमी को पूरा करता है। यह पाठकों को मीठी मुस्कान और मुक्त हँसी से सराबोर करता है। पुस्तक में प्रस्तुत रचनाओं की विषयवस्तु में विविधता है। यहाँ राजनीतिक प्रपंच, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, दैनिक जीवन की उधेड़-बुन, दांपत्य जीवन में अनबन, मीडिया की लीला, दफ्तरों के दाँव-पेंच जैसे समाज के बहुतेरे पहलुओं पर कटाक्ष किया गया है, उनमें हँसी के तत्व ढूँढ़े गए हैं।

दूसरों पर हँसना जितना आसान है, खुद पर हँसना और अपना मजाक उड़ाना उतना ही मुश्किल। लेकिन यहाँ लेखकों ने लेखन-कर्म और लेखकीय जीवन के विरोधाभासों पर खूब चुटकी ली है। वसन्त कुमार शतपथी की रचना 'कविता कर्मशाला' में तथाकथित कविताई पर गहरा व्यंग्य है। एक कविता कर्मशाला आयोजित की गई है, जिसके प्रवेश द्वारों पर लिखा है—"यहाँ पर मिथ बनाए जाते हैं", "यहाँ पर कविता में से आवेग, सेंटिमेंट या इमोशन और प्रेरणा की गंदगी निकाल दी जाती है", "इमेज और प्रतीक बनाने का यंत्र यहाँ मिलता है"...।

फतुरानन्द की रचना 'मेडिकल कॉलेज में मेहेर जयंती' में मेडिकल छात्रों को विश्वास है कि "अधिकांश साहित्यकारों को पेट की बीमारी रहती है।" ये छात्र चिकित्सक की दृष्टि से साहित्य का ऐसा विश्लेषण करते हैं कि मजा आ जाता है। 'कवि की ख्याति' शीर्षक रचना में एक कवि द्वारा सस्ती ख्याति के लिए की गई असफल कोशिश यशपाल की प्रसिद्ध कहानी 'अखबार में नाम' की याद दिलाती है।

'शुद्ध साहित्यकारों' की आर्थिक बदहाली पर भी व्यंग्य है। एक कवि अपने घर में हुई चोरी की सूचना जब पुलिस को देता है, तो पुलिसवाले की प्रतिक्रिया देखिए—"आपके घर से चोरी? कविता रचने वाले के घर से चोरी? ये चोर भी कैसे बेरसिक हैं? शुद्ध साहित्य रचने वाले के घर क्या होता है जो वह ले जाएगा?"

दांपत्य जीवन की विसंगतियाँ हास्य-व्यंग्यकारों का प्रिय विषय है। फकीरमोहन सेनापति (जिन्हें 'आधुनिक ओड़िया कहानी का जनक' माना जाता है) की कहानी 'पेटेंट मेडिसिन' में एक स्त्री अपने पति के नशे की आदत से तंग होकर एक दिन झाड़ू से उसकी इतनी पिटाई करती है कि वह नशा करना छोड़ देता है। लोग मजाक में कहने लगते हैं कि यह नशा छुड़ाने की पत्नी की पेटेंट मेडिसिन है। एमार केआर की रचना 'घरेलू झगड़ा' में पति और पत्नी 'भाव, भाषा, रुचि और धातु' के स्तर पर अलग-अलग लोक के प्राणी हैं। फलतः घर में भारी कलह का माहौल है।

लेखकों ने जीवन की विषमता में हास्य-व्यंग्य की जगह और समय ढूँढ़ निकाला है। कहीं दिखाया गया है कि कैसे, कोई परिवर्तन विरोधी व्यक्ति अपने विचारों के समर्थन में तर्क दे रहा है। कहीं छुट्टी वाले दिन पोते-पोतियाँ दादाजी की नाक में दम किए हुए हैं। कहीं आत्मप्रशंसा और चापलूसी का मनोविज्ञान दिखाया गया है, तो कहीं गलतियों के लिए मातहतों को जिम्मेदार ठहराने और खुद को हमेशा दोषमुक्त साबित करने की आदर्श परंपरा दिखाई गई है। यह भी कि किस तरह उल्टी-सीधी माँग और स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनशन-धरना-प्रदर्शन-हड़ताल किए जाते हैं। कहीं बताया गया है कि निंदा सर्वप्रिय रस है और दूसरों की बुराई करना हमारा सबसे पसंदीदा काम।

'ओल्ड फूल' रचना में एक अनुभवी और संवेदनशील बुजुर्ग नई पीढ़ी को अपनी सहज विट से समझा देता है कि वह बुजुर्गों को मूढ़ समझने की भूल न करे। कृष्ण प्रसाद बसु की रचना 'फुस-फच-खतम' में 'अँधेर नगरी चौपट राजा की'-सी स्थिति है। 'पात्रा जी की स्मरण शक्ति' में भुलक्कड़ी से उत्पन्न हास्य है।

'वेदना नाशक' में सास-बहू का सनातन टंटा है। डॉक्टर जो सास का इलाज कर रहा है, इस निष्कर्ष पर पहुँचता कि बीमार सासुओं के लिए बहू की निंदा करना सबसे प्रभावी दर्दनाशक दवा है। पंकजिनी दास की रचना 'यमलोक में हंगामा' में एक तिकड़मी मनुष्य की आत्मा यमलोक की पूरी व्यवस्था बिगाड़ देती है, कुछ उसी तरह जैसे हरिशंकर परसाई जी की रचना में इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर जाकर करता है। हरेकृष्ण दास 'देवलोक में परीक्षा नाटक' में दिखाते

हैं कि तिकड़मी परीक्षार्थी उत्तीर्ण होने के लिए क्या-क्या करते हैं। अनादि साहु अपनी रचना 'दीये के नीचे अँधेरा' में दिखाते हैं कि भ्रष्टाचार के हमाम में सब नंगे हैं।

संग्रह की रचनाओं में कहीं हास्य की प्रधानता है, तो कहीं व्यंग्य की। किंतु पुस्तक की अधिकतर रचनाएँ हमें सोचने को विवश करती हैं। ये कभी हँसाते-हँसाते उदास कर देती हैं, तो कभी उदासी को मुस्कान में बदल देती हैं। इस संग्रह को पढ़ते हुए हम जीवन और जगत के खट्टे-मीठे अनुभवों से गुजरते हैं।

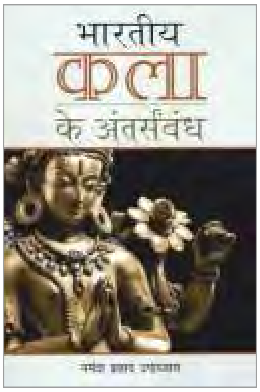

समीक्षक : **लक्ष्मीनारायण मित्तल**
लेखक : **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय**
अनुवादक : **डॉ. शैलेश कुमार मिश्र**
प्रकाशक : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली-110070
पृष्ठ : 128
मूल्य : रु. 160/-

भारतीय कला के अंतर्संबंध

भारतीय शास्त्रों में कला को उपयोगी कला और ललित कलाओं के भेद के रूप में जाना जाता है। जहाँ उपयोगी कलाओं का आधार स्थूल होता है, ललित कलाएँ अमूर्त होती हैं यद्यपि इनका प्रगटीकरण काव्य चित्र शिल्प या स्थापत्य के रूप में देखा जा सकता है। लोक कहावत है कि जीवन स्वयं में एक कला है। इस जगत में कलाएँ हमारी सूक्ष्म भावनाओं को प्रगट करती हैं। इसी से बहुत से कलाकार कला को स्वयं जीवन मानते हैं, पर यह बिना देह की सूक्ष्म विदेह है जिसमें जीवन के पल की धड़कनें प्रगट होती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में नौ अध्यायों में कला के अंतर्संबंध विभिन्न विधाओं के साथ जोड़कर प्रगट किए गए हैं। पाश्चात्य कला, रूढ़, दुरूह और कभी-कभी क्लिष्टतापूर्ण होती है।

भारतीय कला के बारे में कहा जाता है कि वह नैसर्गिक है। भारतीय षट् दर्शनों में जीवन जीने की कला का ही विश्लेषण है।

लेखक स्वयं भी भारतीय कला के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय नाम है। उन्हें कई विदेशी सम्मान भी मिले हैं। इसी से पुस्तक काव्य का कथ्य कुछ कठिन और कहीं-कहीं अमूर्त होने के कारण दुरूह भी है। पुस्तक के सभी निबंधों में भारतीय कला, भारतीय साहित्य और भारतीय लोक आख्यानों के पारस्परिक अंतर्संबंधों को दर्शाया गया है। हिंदी के पाठक प्रायः कला-समीक्षा के बारे में कम ही जानते हैं क्योंकि हिंदी के समाचार पत्रों या पत्रिकाओं में कला-पक्ष को लेकर उस प्रकार के कॉलम नहीं छपते, जैसे प्रायः अंग्रेजी के प्रतिष्ठित अखबार पूरे पेज में कला समीक्षा छापते हैं। इसी से हिंदी पाठकों के लिए यह पुस्तक बहुत महत्व रखती है।

अंतर्संबंध का साधारण अर्थ है—हृदय से जुड़ना। पहले निबंध साहित्य और कला के अंतर्संबंध में लेखक स्पष्ट करता है कि साहित्य का अर्थ ही है साथ-साथ चलना। राजशेखर और कुंतल का उदाहरण देकर बतलाया गया है कि सहित का भाव ही साहित्य है—सहितस्य भावः साहित्यम्। तैत्तरीय उपनिषद् में इसी को 'रसो वै सः' कहा गया है। यह रस सबका है। इसी से सूर बिना आँखों के भी उन दृश्यों को दिखलाते हैं जो लीला आज भी जन-जन की आँखों में समाई हुई है। लेखक कहता है कि कला का प्रयोजन है—जड़ता से संघर्ष और यही प्रयोजन साहित्य का भी है। लेखक का मानना है कि आज विद्यागत रूप से संवाद होना बंद-सा हो गया है। इसी से साहित्य और कला के अंतर्संबंधों की पड़ताल और भी ज्यादा जरूरी हो गई है। यही संवाद की निरंतरता बने रहने का आधार है।

'भारतीय लोक दृष्टि एवं कला दृष्टि' आलेख में बतलाया गया है कि लोक, कला और परंपरा तीनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। भारतीय परंपरा बंधन में नहीं बाँधती। जब बंधन बन जाता है तब हम अपनी परंपरा और निरंतरता में रह जाते हैं। इसी से परंपरा के प्रवाहमान होने के लिए उसे संदिग्ध नहीं होना चाहिए। पाश्चात्य कला में यह 'अवगुण' अब प्रगटतः देखा जा सकता है। भारतीय लोक परंपरा मूलतः वाचिक होने के कारण आज भी जीवन के स्वप्न से जुड़ी है।

समयसार में व्याख्यायित अकर्ता भाव में बतलाया गया है। कला के संबंध में पाश्चात्य दृष्टि वस्तुवादी रही है। मार्क्स ने सौंदर्य का आधार भौतिक माना है, जबकि फ्रायड उसे काम प्रेरित बतलाते हैं। गिब्सन ने उसे 'प्रकृति का अनुवाद' कहा है। भारतीय अवधारणा कला को भारतीय दर्शन और सौंदर्य शास्त्र से व्याख्यायित करती है। तैत्तरीय उपनिषद् में 'रसो वै सः' कहकर कला की उदारता का उद्‌बोध किया गया है। मुंडकोपनिषद् में कला के अकर्ता भाव को उद्‌घोषित किया गया है।

'मध्य भारत की कुछ चित्र शैलियाँ' अध्याय में भारतीय कला की समन्वयवादी, साझीदारी और समग्रता की व्याख्या की गई है। इस युग की कुछ चित्र शैलियों में युगल शैली का प्रभाव भी देखा जा सकता है। पुस्तक में एक चित्र दिया गया है जिसमें फारसी प्रभाव का नृत्य प्रदर्शन दर्शाया गया है। इस अध्याय में मध्य भारत में जो विभिन्न शैलियाँ जन्मी और विकसित हुईं, उन पर भी चर्चा की गई है। इसी प्रकार राजस्थान के कोटा और बूँदी शैली की भी चर्चा की गई है।

'समसामयिक कला में दृश्य चित्रण' अध्याय में समसामयिक कला और दृश्य चित्रण से जुड़ाव की बात की गई है। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि समसामयिक कला की अवधारणा भारत के संदर्भ में पश्चिम की तुलना में भिन्न है। भारत में समसामयिक का अर्थ

तत्समय है, आज का समय या जिस काल में हम जीवित हैं वह नहीं। इसी से भारतीय कला में समग्रता का चित्रण है, वैयक्तिकता का आग्रह नहीं है।

भारतीय कला दृश्य की व्यंजना है। कालिदास इसे इस तरह समझाते हैं कि बादल सुंदर हैं, उसका आभास यह देखकर होता है कि नदी कितनी दुबली हैं। बादल के विरह में दुबली हुई नदी से बादल का सौंदर्य समझा जा सकता है।

सामान्य पाठक भी इस अपेक्षाकृत अमूर्त विषय को समझने और ग्रहण करने में सक्षम होगा। इस दृष्टि से यह पुस्तक गंभीरता से पठनीय है।

समीक्षक : **प्रमोद भार्गव**
लेखिका : **उपासना**
प्रकाशक : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली-110070
पृष्ठ : 148
मूल्य : रु. 80/-

डेस्क पर लिखे नाम

डेस्क पर लिखे नाम नितांत मौलिक उपन्यास है। बालसुलभ जिज्ञासाओं को नैसर्गिक घटनाओं के रूप में इस उपन्यास का कथा-विन्यास लेखिका ने अत्यंत सुरुचिपूर्ण ढंग से किया है। भिन्न-भिन्न घटनाओं, कथाओं और सहज, सरल व रोचक संवादों से कुल मिलाकर 24 घटनाक्रम इस कथानक को संपूर्ण रूप देकर श्रेष्ठ बाल उपन्यास में बदलते हैं। पाठ्यक्रम में निहित शिक्षा के साथ-साथ इसमें प्रकृति और उसके संरक्षण के उपायों की शिक्षा अत्यंत सारगर्भित है।

इस उपन्यास में मुख्य पात्र टुटु और पुट्टी नामक भाई-बहन हैं। टुटु छह और पुट्टी आठ वर्ष की है। इसी उम्र के अन्य बच्चे और टुटु-पुट्टी के माता-पिता भी पात्र हैं। इस उपन्यास की पहली कथा 'स्कूल और दोस्त' है। इस प्रसंग के एक दृश्य पर बात करते हैं। पाठशाला पहुँचने पर पुट्टी की मुलाकात एक नए छात्र से पक्षी के पंख पर संवाद से होती है। पुट्टी जब सौरभ मरांडी नाम के छात्र को पंख दिखाती है तो वह पूछता है, "यह पंख तुम्हें कहाँ से मिला?"

"आज स्कूल आते समय रास्ते में।"

"तोते ने दिया।"

"नहीं, पेड़ के नीचे गिरा मिला।" सौरभ चुप रहा, तब पुट्टी बोल उठी, "तोता पंख क्यों देता है, जानते हो?" बच्चे ने नहीं में सिर हिलाया। तब पुट्टी बोलती है, "उसे नई ड्रेस मिल जाती है तो पुरानी हम बच्चों को दे देता है।"

"यह किसने बताया तुम्हें?"

"पापा ने।" तब सौरभ जेब से रंग-बिरंगे पत्थर निकालकर पंख के चारों ओर गोल घेरे में रखते हुए बोलता है, "यह इसका घर है।"

मेरी राय में जीव-जगत और उनके अवशेषों के संरक्षण का इससे अच्छा व अनुपम उदाहरण दुर्लभ है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जब यह पाठ विद्यालय में किसी शिक्षक ने पढ़ाया नहीं तो सीखा कैसे? पुट्टी के पिता ने तो सिर्फ इतना बताया था कि "जब पक्षी को नई ड्रेस मिल जाती है तो पुरानी हमें दे देता है।" इस संवाद में अत्यंत सहज रूप में लेखिका ने प्रकृति से मनुष्य को 'देने ही देने' का संदेश व्यक्त कर दिया है। अब बालक की बालसुलभ जिज्ञासा देखिए कि वह पंख के लिए पत्थरों से 'घर' डेस्क पर ही बना देता है। इस सरल क्रिया में प्रकृति के संरक्षण का उपाय अंतर्निहित है। आज भारत में ही नहीं, दुनिया में पर्यावरण के समस्त आधार छीज रहे हैं।

अब 'अपने घर का माली' प्रसंग पर आते हैं। पौधे का संरक्षण, उसकी सिंचाई घर में किसी व्यक्ति के लंबे समय तक उपस्थित नहीं रहने पर कैसे संभव है, इसका विज्ञान-सम्मत पाठ इस प्रसंग में प्रयोग के रूप में दृष्टव्य है, जिसमें गुलाब के पौधे को सूखने से बचाने के लिए पुट्टी के गुरु जी घर आकर पौधा हफ्ते-दो हफ्ते तक न सूखने का प्रायोगिक उपाय करते हैं। वे एक मेज के नीचे गमला रखते हैं। मेज के ऊपर पानी से भरा तसला रखते हैं। अब तसले में सुतली का एक सिरा डुबोकर दूसरा सिरा गमले में डाल देते हैं। कुछ देर साइफन तकनीक की तरह सुतली के माध्यम से पानी की बूँद-बूँद गमले में गिरने लगती है। समस्या का इससे अच्छा वैज्ञानिक निदान और क्या हो सकता है?

उपन्यास की अंतिम शीर्ष कहानी 'डेस्क पर लिखे नाम' है। मम्मी-पापा के साथ टुटु-पुट्टी गाँव से लौट आए हैं। गमले में पौधा जीवंत है। कुछ दिन बाद पुट्टी पापा के साथ घूमने निकलती है। खाली जमीन के पास से गुजरते हुए पापा ने बताया, "बहुत साल पहले यहाँ जंगल हुआ करते थे। जंगलों में पहाड़िया लोग निवास करते थे। फिर पहाड़िया लोगों के बाद यहाँ संथालों ने खेती-बाड़ी शुरू की। उसके बाद सरकार ने यहाँ जंगल और आदिवासियों के घर हटाकर शहर बसा दिया। भरा-पूरा शहर। फिर धीरे-धीरे यहाँ कारखाना बना, क्वार्टर बने। फिर अस्पताल और स्कूल बने।...यह विकास है।"

जब वर्धा में देश की स्वतंत्रता के बाद दी जाने वाली शिक्षा का प्रारूप बन रहा था, तब महात्मा गांधी ने कहा था, "अगर मैं किसी कक्षा में जाकर यह पूछूँ कि मैंने एक सेब चार आने में खरीदा और उसे एक रुपये में बेच दिया तो मुझे क्या मिलेगा? मेरे इस प्रश्न के जवाब में अगर पूरी कक्षा यह कह दे कि आपको जेल की सजा मिलेगी तो मानूँगा कि यह आजाद भारत के बच्चों के सोच के अनुसार शिक्षा है।" यह विद्यार्थी का नैतिक चरित्र बनाने वाली शिक्षा का पाठ है, लेकिन मुनाफाखोरी पर अंकुश लगाने वाला यह पाठ भी कहाँ पढ़ाया जाता है?

दरअसल बच्चे प्रकृति की तरह सबसे ज्यादा रहस्यवादी होते हैं। प्रसिद्ध शिक्षाविद् जॉन हॉल्ड ने कहा है कि "बच्चे तभी सबसे अच्छा सीखते हैं, जब वे खुद किसी चीज को सीखना चाहते हैं, जब किसी चीज को किसी के कहने से नहीं, बल्कि खुद अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए सीखते हैं। मुझे लगता है कि हम आज के बोझिल पाठ्यक्रम को आंशिक तौर पर या पूरी तरह से हटा देंगे, तो उससे सीखने की प्रक्रिया बहुत बेहतर हो जाएगी।" यह उपन्यास इस दिशा में एक कड़ी है, जो स्वाध्याय के पाठ से जुड़ी है। दरअसल बाल उम्र कृष्ण जैसे उस नटखटेपन को न्योछावर है, जो बूढ़ों को भी बचपना याद दिला देती है। ऊर्जा के इस स्रोत को यह उपन्यास हवा देता है।

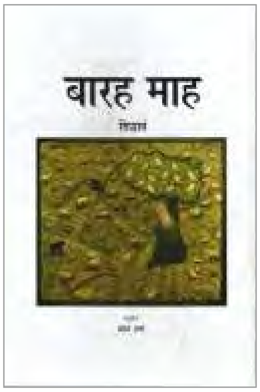

समीक्षक : **डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण'**

लेखक : **सिद्धार्थ**

अनुवादक : **प्रवेश शर्मा**

प्रकाशक : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली-110070

पृष्ठ : 64

मूल्य : रु. 410/-

बारह माह

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित संग्रणीय ग्रंथ 'बारह माह' पूर्व प्रधानमंत्री स्व. राजीव गांधी और पंजाब के सिक्ख संत हरचंद सिंह लौगोवाल के बीच हुए 'शांति-समझौते' के अंतर्गत बने विशेष पंजाबी अनुभाग द्वारा प्रसारित मूल पंजाबी ग्रंथ का हिंदी में अनुवाद है। 'तुखारी छंद' में गुरु नानक जी द्वारा रचित 'बारह माह' पुस्तक का अनुवाद प्रवेश शर्मा ने किया है। यह संग्रहणीय ग्रंथ गुरु नानक देव जी के 550वें 'प्रकाशोत्सव' को समर्पित किया गया है।

इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें दुर्लभ चित्रों को समाहित किया गया है, जो स्वयं में न केवल चित्रकला के उत्कर्ष का साक्ष्य देते हैं, बल्कि इनमें दार्शनिकता का पुट भी है। इस अनमोल ग्रंथ को पाँच अध्यायों में बाँटा गया है, जो इस प्रकार हैं—

1. वडभागी रंग कुदरत बारहमाह
2. रित ऋतु
3. साखी
4. तुखारी छंद महला-1, बारहमाह
5. बारहमाह, जैसे समझा

'रित ऋतु' में कहा गया है—'बारह महीने वर्ष के और हर महीनेवार मौसम का बखान' और यहीं इस बेजोड़ ग्रंथ का उद्देश्य और महत्व स्पष्ट किया गया है। सिख गुरुओं की वाणी में से चार बारहमाह रचनाएँ प्राप्त हैं। तीन बारहमासे श्री गुरु ग्रंथ साहिब में दर्ज हैं। प्रथम गुरु नानक देव जी की बाणी बारहमाह राग तुखारी में निबद्ध है। पाँचवें गुरु अर्जुन देव जी की बाणी में दो बारहमाह रचनाएँ राग माझ और राग रामकली में निबद्ध हैं। दशम गुरु गोबिंद सिंह जी की बाणी 'दशम ग्रंथ' में दर्ज कृष्ण लीला काव्यकथा के अंतर्गत बारहमाह प्रेम लीला का वैश्विक और आध्यात्मिक अवलोकन है।'

इसी अध्याय में हिंदू महीनों के अंग्रेजी महीनों से संबंध को उजागर किया गया है, जो इस प्रकार है—

चैत्र	:	मध्य मार्च से अप्रैल के मध्य तक
वैसाख	:	मध्य अप्रैल से मई के मध्य तक
ज्येष्ठ	:	मई से मध्य जून
आषाढ़	:	जून से मध्य जुलाई
सावन	:	जुलाई से मध्य अगस्त
भाद्र	:	अगस्त से मध्य सितंबर
आश्विन	:	सितंबर से मध्य अक्तूबर
कार्तिक	:	अक्तूबर से मध्य नवंबर
मार्गशीर्ष	:	नवंबर मध्य से दिसंबर
पौश	:	दिसंबर मध्य से मध्य जनवरी
फाल्गुन	:	फरवरी से मध्य मार्च

इस ग्रंथ का सबसे महत्वपूर्ण भाग है 'साखी', जिसमें गुरु नानक देव जी और अंगद देव जी का संवाद है, जो प्रकृति के दर्शन से ओत-प्रोत है, जिसके अंत का भाग देखिए—

यह प्रकाश चेतना आत्मन का
गीत सुनाया बाबा नानक ने
चुप शांत, चरणों में बैठ कर
सुना, आत्मसात किया अंगद ने
मनन किया दिन रात।
बाबा गए बारहमाह।

इस अनूठे ग्रंथ का मूलाधार है 'तुखारी छंद महला-1, बारहमाहा', जिसे मूल में देकर हिंदी अनुवाद भी दिया गया है। इसमें बारह महीनों के चित्रण और उसी के अनुरूप चित्र भी दिए गए हैं, जो मनमोहक भी हैं और प्राचीन चित्रकला के अनुपम उदाहरण भी हैं। प्रत्येक माह का महत्व उसके चित्र के साथ होना ही ग्रंथ को दुर्लभ बना रहा है। 'वैसाख' माह की विशेषता देखिए—

वैभव बढ़ा शाखा फैली
पका बीज सनहला हुआ
जीवन-मृत्यु के बीच।
एक बीज का विस्तार अनेक

मिट्टी में मिलना
फिर नवजीवन ले लौट आना
किसी को खाना, किसी को चुगना
आवागमन लगा ही रहना।

इस अनूठे ग्रंथ में सिख गुरुओं के जीवन-दर्शन को भी बड़ी सूक्ष्मता से पिरोया गया है—

आएँगी अंधेरियाँ
हू हू करती
अथवा
आएँगे काले मेघ
बहुत हुआ तपित संसार अब
अब अमृत बूँद मिले तो जिऊँ
अमृत बरसा बूँद बूँद।

निस्संदेह, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत द्वारा प्रकाशित यह अनमोल ग्रंथ जहाँ एक ओर सिक्खों के महान गुरु नानक देव जी की साधना का प्रमाण देता है, वहीं इससे उनकी प्रकृति के अवलोकन की महान क्षमता का भी परिचय मिलता है। यह सचमुच ही एक बेजोड़ और संग्रहणीय ग्रंथ है।

भारत वैभव

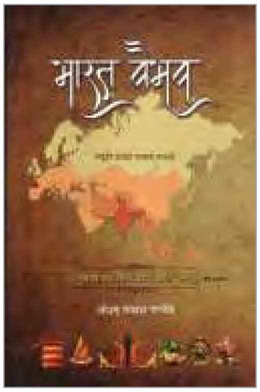

समीक्षक : **प्रेमलता मिश्रा**

लेखक : **ओम् प्रकाश पाण्डेय**

प्रकाशक : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली-110070

पृष्ठ : 442

मूल्य : रु. 1195/-

भारतीय ज्ञान परंपरा, भारतीय शिक्षा, भारतीय लोक व्यवस्था और स्वास्थ्य के प्रति संचेतना का अखिल विश्व में आदिकाल से ही बोलबाला रहा है। ऐसे में यह पुस्तक भारत के प्रति जनमानस को विस्तृत आयाम प्रदान करती है और भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत एवं पुराविधाओं के रहस्यों को उद्घाटित करती हुई आधारभूत कुंजिका के रूप में अपने वैशिष्ट्य को प्रतिष्ठापित करती है।

विश्व के पश्चिम की ओर उन्मुख होने से नैराश्य का भाव भारी हुआ है, ऐसी स्थिति में हमें स्वयं अपनी ओर एकाग्र होकर विश्व की जटिलताओं का विकल्प खोजना ही होगा।

किसी भी देश के विकास के आधार स्तंभ की प्रथम इकाई 'मानव संसाधन के सर्वांगीण विकास' को उपेक्षित करके केवल पाशविक विकास को ही बल दिया जा सकता है। इस पुस्तक से वर्तमान एवं भावी उत्तराधिकारियों को स्वयं एवं अपने राष्ट्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्षता का ज्ञान होगा। प्रस्तुत पुस्तक में भारत राष्ट्र की सनातनता, उत्कृष्ट ज्ञान परंपरा के विविध स्वरूप, भाषा अवतरण एवं लिपि विकास परंपरा एवं इतिहास, अंक विद्या के प्राचीनतम स्रोत और परिकल्पना जो पुरुष सूक्त में वर्णित मंत्र 'एकम् सत् विप्रा' तथा पुरुष सूक्त में वर्णित दश व सहस्र की संख्याओं के उल्लेख से प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि यजुर्वेद में (17-2) संख्या 1 से लेकर लोक अर्थात एक पर सत्ताईस शून्य वाली संख्याओं का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है जिसका विवरण सप्रमाण पुस्तक में समाविष्ट किया गया है। काल गणना की भारतीय अवधारणा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण भी पुस्तक की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है। भारतीय शिक्षा एवं शिक्षण पद्धति परंपरा में 14 विद्याओं और 64 कलाओं के साथ-साथ स्त्री शिक्षा की भी विशाल परंपरा प्राप्त होती है जिसमें रोमशा, लोपा मुद्रा आदि प्रमुख हैं। यहाँ तक कि सभी वर्णों के लिए शिक्षा का उपक्रम था तथा सभी के लिए समान रूप से वेद अध्ययन का अधिकार प्राप्त था।

भारतीय कला एवं साहित्यिक उत्कृष्टता के विशाल वैभव से समादृत प्राचीन भारतीय कला परंपरा के दिग्दर्शन कराती इस पुस्तक में प्राचीन भारत में वैज्ञानिक अन्वेषणों की विलक्षण उपलब्धियों के साथ-साथ तकनीकी दक्षता, आयुर्वेद चिकित्सीय पद्धति, अष्टांग योग, कृषि एवं उद्योग की व्यवस्थित प्रणाली, भारतीय अर्थ चिंतन की शुचिताएँ, राजनीति एवं दंड विधान की सम्यक व्यवस्था, स्वरूप के साथ-साथ परिशिष्ट में भारतीय ऋषि परंपरा, महाभारत काल पश्चात प्रमुख राजवंश परंपरा, भारतीय पर्व एवं त्योहारों की विस्तृत विवेचना के अतिरिक्त वैश्विक विद्वानों द्वारा आर्ष ज्ञान परंपरा की प्रशस्ति में व्यक्त किए गए हार्दिक उद्गारों एवं कथनों को समाविष्ट किया गया है।

पुस्तक में समाहित सभी विषय अपनी महत्ता को प्रतिष्ठापित करते हुए प्राचीन भारत के गौरवशाली उपक्रम एवं परंपरा को समृद्ध करते हैं जिसमें से किसी के अभाव में भारत अपनी विश्वगुरु की प्राचीन संज्ञा से निश्चय ही अत्यंत सुदूर परिलक्षित होता। सारे विषय जिन पर पुस्तक के माध्यम से अध्यायों में विभाजित कर लघु एवं तथ्यात्मक चर्चा की गई है उन पर अलग-अलग ग्रंथों की रचना की जा सकती है। पुस्तक को संदर्भ ग्रंथ के रूप में ग्रहण करना ही श्रेयस्कर होगा, जो नए शोध ग्रंथों की प्रामाणिकता को पुष्ट करने में अत्यंत सहायक होगा। पुस्तक का सिंहावलोकन भाग ही भारतीय वैभव को कुंजिका रूप में उद्घाटित करता हुआ नवीन शोधमार्गों को प्रशस्त करता है। समन्वयवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ अनुसंधानपरक तथ्यों का समावेश पुस्तक को अति विशिष्ट बना देता है। वैश्विक सदाशयता एवं चतुर्विध उत्कर्ष में ही इस कृति का मुख्य प्रयोजन परिलक्षित होता है।

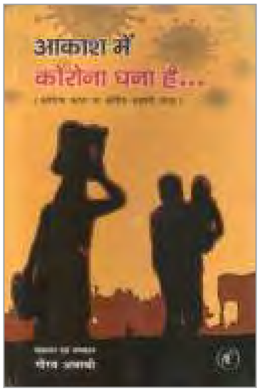

आकाश में कोरोना घना है

(कहानी संग्रह)

समीक्षक : **उमेश चतुर्वेदी**

संपादक : **गौरव अवस्थी**

प्रकाशक : लिटिल बर्ड पब्लिकेशंस, दिल्ली।

पृष्ठ : 132

मूल्य : रु. 150/-

इसमें कोई शक नहीं है कि चीन के वुहान शहर से उपजे विषाणुजनित महामारी कोरोना ने पूरी मानव जाति को ही अपने लपेटे में ले लिया है। इस बीमारी ने जिन्हें नहीं छुआ, वे सिर्फ इस मामले में ही भाग्यशाली रहे कि उन्हें डॉक्टर-दवा और इस अप्रत्याशित बीमारी के इलाज-जनित त्रासदी से जूझना नहीं पड़ा। लेकिन इस बीमारी ने कम-से-कम तीन पीढ़ियों वाले हमारे संसार को कहीं गहरे तक बेधा है। यह बेधन सामाजिक भी है, आर्थिक भी है और उससे भी ज्यादा मानसिक है...इस बीमारी से बचाव के लिए जिस अनुशासन को चाहे या अनचाहे पूरी दुनिया को झेलना पड़ा है, उसने लोगों को जितना बचाया नहीं, उससे ज्यादा परेशान किया है।

लगातार घरों में कैद रहने के दौरान लोगों ने अपने एकरस जीवन से निकलने की जो राहें चुनीं, लोगों के दर्द बाँटने की जो कोशिश की, नौकरियों के जाने की आफत झेली, अपने गाँव-घर लौटने के लिए कभी पैदल तो कभी साइकिल के जरिए तो कभी किसी अन्य सहारे लौटने की मजबूर जिद को पूरा किया, प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में कोरोना के अनुशासनजनित जीवन के ये सभी रंग हैं जिनमें दर्द है, आशंका है, जीवन के प्रति हलकी-सी प्रत्याशा भी है, बंदी जीवन को काटने के लिए कभी रसगुल्ला तो कभी गुलाब जामुन बनाकर जिंदगी में मिठास घोलने की कोशिश है। इस संग्रह की कहानियों में घरों में सफाईकर्मी बने लोगों के परिहासात्मक विवरण भी हैं और दर्द भी है।

इस संग्रह में शामिल कहानियों के रचनाकारों में ज्यादातर पत्रकार हैं। इसलिए उनकी रचनाधर्मिता पर उनका पत्रकारीय कर्म हावी नजर आता है। पत्रकारिता के लिए विवरणात्मक होना जरूरी है, सपाटबयानी और स्पष्टता उसकी विशेषता है। लेकिन कहानी का लेखन बुनियादी रूप से रचनाकर्म है। अगर घटनाओं को ही ज्यों का त्यों रख दिया तो कहानी कैसी, उसके लिए कुछ तो रचनात्मक होना पड़ता है, कुछ भाषाई चमत्कार दिखाने होते हैं। इसलिए संग्रह की कई कहानियाँ रचनात्मकता की कसौटी पर बेहद कमजोर और सपाट बयान लगती हैं। शायद संकलन के संपादक को इसका आभास पहले से ही रहा होगा, इसीलिए संभवतः उन्होंने स्वीकार कर लिया है कि (इस संग्रह की कहानियाँ) न भी पसंद आएँ तो इसे आप इसलिए पसंद करिएगा क्योंकि साहित्य क्षेत्र में पहली बार कदम रखने जा रहे, हमारे जैसे नौसिखुओं को आपकी 'पसंद' रूपी खाद-पानी इसे बढ़ने में मदद ही करेगा।

चूँकि इस संग्रह की रचनाओं का रचनाकाल कोरोना का त्रासदी काल है, इसलिए इनमें एक कौंध जरूर है। जो कभी बेरोजगारी के दर्द के रूप में सामने आती है, तो कभी किसी की ईएमआई कैसे पूरी हो, उसकी चिंता बनकर, तो कभी किसी के घर लौटने की पीड़ा के तौर पर सामने आती है।

हालाँकि इस संग्रह की संजीदा कहानी है संध्या सिंह की कहानी 'कुकनूस'। यह बेहद मार्मिक कहानी है। इस कहानी की नायिका परबतिया है, जिसका पति लापता हो गया है। फिर भी उसे घर लौटते मजदूरों के साथ भेज दिया जाता है कि वह अपने गाँव तो पहुँच जाएगी। इस बीच उसके घर फोन लगाने की कोशिश जारी रहती है, लेकिन सफलता हासिल नहीं हो पाती और यह कहानी एक गहरा सन्नाटा छोड़ जाती है। इस संग्रह की एक और महत्वपूर्ण कहानी है पंखुरी सिन्हा की 'सावन मास बहे पुरवैया'। नायिका श्यामली के बहाने इस कहानी में पंखुरी सिन्हा ने बहुत खूबसूरती से कोरोना काल में उपजे संकटों के साथ ही इसे लेकर लोगों के विभिन्न विचारों को प्रस्तुत कर दिया है जिसमें जनसंख्या नियंत्रण की भी बात है, तो सड़क पर उतरे मजबूर हुजूम का दर्द भी, प्रतिपक्षी चिंताएँ भी हैं तो पूर्व प्रशासन चिंतन भी और इस बीच कोरोना की कैद के दौरान विकसित रसोई और पाककला के साथ नायिका का साफ-सफाई झाड़ू-पोंछा कर्म भी। कह सकते हैं कि यह कहानी कोरोना काल की प्रतिनिधि कहानी है।

कोरोना काल में अपने पिता को कथित रूप से गुरुग्राम से साइकिल के जरिए मिथिला ले जाने वाली ज्योति कुमारी की कहानी बड़ी प्रचलित हुई थी। उसके चरित्र को आधार बनाकर कुसुमलता सिंह ने भी कहानी लिखी है। इस संग्रह की एक और बेहतरीन कथा है, पत्रकार अमरेश द्विवेदी की 'लॉकडाउन', जिसमें समाज का विद्रूप सामने आता है जिसमें समाज का विद्रूप खुलकर उभरता है। इस कहानी का नायक एक सोसायटी के पेड़-पौधों की देख-रेख करने वाला माली जब कोरोना के चलते मर जाता है तो सोसायटी का एक व्यक्ति कह उठता है... 'मरना था तो गाँव जाकर मर जाता न...' इस संग्रह में एक व्यंजना कथा भी है, अनूपमणि त्रिपाठी की 'बादशाह सलामत जिंदाबाद'।

अगर आपको कोरोना के चलते कैद के दौरान पैदा हुई मनःस्थितियों को जानना है, तो इन कथाओं से जरूर गुजरिए... वे आपको कुछ परिचित और कई अपरिचित अनुभव से भी संपृक्त कर जाएँगी।

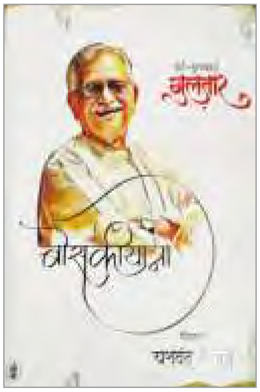

समीक्षक : **रवीन्द्र त्रिपाठी**

पेशकश : **यशवंत व्यास**

प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

पृष्ठ : 224

मूल्य : रु. 1200/-

बोसकीयाना : बातें-मुलाकातें, गुलज़ार

कुछ लोग अपने जीवनकाल में किंवदंती हो जाते हैं। फिल्मकार-शायर गुलज़ार ऐसे ही हैं। वे एक फिल्म निर्देशक, पटकथा लेखक, शायर, गीतकार हैं। उन्होंने साहित्य और सिनेमा को जोड़ा है। उर्दू, हिंदी, पंजाबी और बांग्ला को जोड़ा है अपने गीतों में और अपनी फिल्मों में। यह भी कह सकते हैं कि गुलज़ार एक सेतु हैं जहाँ फिल्म और साहित्य की कई धाराएँ एक-दूसरे से जुड़ती हैं। वरिष्ठ पत्रकार और लेखक यशवंत व्यास की पुस्तक 'बोसकीयाना' (बातें-मुलाकातें गुलज़ार) इस मायने में नायाब है कि इसमें गुलज़ार के व्यक्तित्व के कई पहलू खुलते हैं। वे पहलू जिनके बारे में बहुत कम लोग जानते हैं और साथ-ही-साथ दूसरे कई लोगों—फिल्मकार बिमल राय, हृषिकेश मुखर्जी, संजीव कुमार आदि के बारे में नई जानकारियाँ सामने आती हैं।

पुस्तक साक्षात्कार की शैली में है, लेकिन साक्षात्कार लेने वाले यानी यशवंत व्यास की अपनी शैली का प्रभाव भी यहाँ है। इसके अलावा यह कहना भी उचित होगा कि यह एक डिजाइनर पुस्तक है। साज-सज्जा और प्रस्तुति में भव्यता भी है। पर इस भव्यता में आत्मीयता दबती नहीं, बल्कि और भी निखरती है।

अविभाजित भारत और आज के पाकिस्तान में 1934 में जन्मे संपूरण सिंह कालरा को गुलज़ार बनने के लिए कई पड़ावों से गुजरना पड़ा। जैसा कि हिंदी में कहते हैं कि कई तरह के पापड़ बेलने पड़े। भारत-पाक विभाजन के पूर्व ही दिल्ली आ गए गुलज़ार ने इंटरमीडिएट तक ही पढ़ाई की, आज की शब्दावली में कहें तो 12वीं तक। फिर यह शख्स इतना बड़ा लेखक कैसे बन गया? इस पुस्तक को पढ़ते हुए पता चलता है कि अपनी युवावस्था के आरंभिक दिनों में वे दिल्ली के रोशनआरा बाग के आस-पास बंद दुकानों के बाहर खुले में रात गुजारते थे। कुछ पढ़ते हुए और कुछ सोते हुए। मगर पढ़ने के लिए क्या था? फुटपाथी साहित्य जो उस जमाने में पुरानी पुस्तकों की दुकान से चार आने हफ्ते के किराए पर मिल जाता था। एक दिन इस आदमी के हाथ लगी रवीन्द्र नाथ ठाकुर की पुस्तक 'गार्डनर' (बागवान)। उसी के साथ उनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल गया और वे सर्जनात्मकता की तरफ मुड़े। वे लेखक बनने की राह पर चल पड़े।

बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि गुलज़ार ने शायरी या कविता में एक नई विधा की शुरुआत की है। इसे नाम दिया है 'त्रिवेणी'। यह त्रिवेणी क्या है? गुलज़ार कहते हैं—"त्रिवेणी को पंजाबी की लोक कविता शैली माहिया या बोली के समानांतर देखा जा सकता है जिसके अंत में एक झटकेदार पंक्ति होती है। उर्दू में भी ऐसा फॉर्म नहीं है।... त्रिवेणी न तो मुसल्लस है, न हाइकू, न तीन मिसरों वाला कहीं एक नज़्म। इन तीनों रूपों में एक ख़याल और एक इमेज का तसलसुल मिलता है, लेकिन त्रिवेणी का फर्क इसके मिजाज का फर्क है। तीसरा मिसरा पहले दो मिसरों के मफहूम को कभी निखार देता है, कई इजाफा कर देता है या उन पर कमेंट करता है।"

'त्रिवेणी' का एक उदाहरण यहाँ पेश है—

कुछ इस तरह ख़याल तेरा जल उठा कि बस
जैसे दिया सलाई जली हो अँधेरे में
अब फूँक भी दो, वरना ये उँगली जलाएगा।

किस फिल्म के निर्देशन के दौरान क्या-क्या हुआ या किस फिल्म की पटकथा के दौरान क्या-क्या मुश्किलें आईं या कैसे वे मूल साहित्यिक रचना से अलग हुई अथवा अपनी फिल्मों में हीरो के चेहरे पर चश्मा क्यों पहनाया, जैसे कई प्रसंग इस पुस्तक को दिलचस्प बनाते हैं। इसी सिलसिले में एक बेहद मार्मिक याद दिवंगत अभिनेता संजीव कुमार की है जिनसे गुलज़ार के गहरा रिश्ता था। संजीव कुमार ने अभिनय की शुरुआत रंगमंच से की थी। शुरुआती दिनों में वे 'ऑल माई संस' नाटक किया करते थे जिसमें वे एक बूढ़े की भूमिका निभाते थे। लीला चिटणीस उनकी पत्नी बनती थीं। संजीव तब 22 साल के थे। एक बार नाटक का शो खत्म होने के बाद पृथ्वीराज कपूर मेकअप रूम में गए। संजीव तब तक अपना मेकअप उतार चुके थे। पृथ्वीराज कपूर ने उनसे पूछा, "वो बूढ़ा कहाँ है?" जाहिर था कि वे अभिनेता संजीव को मेकअप उतारने के बाद पहचान नहीं पाए थे। इसीलिए पृथ्वीराज कपूर हैरत में आ गए और फिर जबरदस्त बधाई देते हुए गए।

पुस्तक में गुलज़ार से फिल्म और शायरी के कई पहलुओं के साथ-साथ और भी विषयों की चर्चा है। धर्म और आध्यात्मकिता में क्या अंतर है? इसके बारे में वे खुलकर बात करते हैं। वे यह भी बताते हैं कि अपनी बेटी मेघना गुलज़ार, जिसे वो प्यार से 'बोसकी' कहते हैं, के जन्मदिन पर हवन आदि भी कराते हैं। वे इसे तपस्या की तरह लेते हैं। गुलज़ार एक बेहद पढ़ाकू इनसान हैं और कई पुस्तकें एक साथ पढ़ते हैं। टेनिस से लेकर फिल्म और रंगमंच जैसी दुनिया की पुस्तकें उनके सामने मेज पर फैली होती हैं। उनको बुद्ध काफी प्रिय हैं और पूरे घर में, जिसका नाम 'बोसकीयाना' है, मिट्टी से लेकर धातु के और हाथी दाँत से लेकर कई प्रकार के प्रस्तर की बुद्ध मूर्तियाँ उनके यहाँ हैं। गुलज़ार की कहानी अभी थमी नहीं, चल रही है।

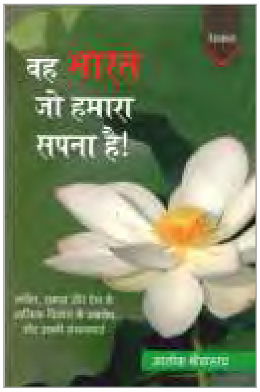

समीक्षक : **राजेंद्र भट्ट**

लेखक : **आलोक श्रीवास्तव**

प्रकाशक : संवाद प्रकाशन, मेरठ।

पृष्ठ : 390

मूल्य : रु. 300/-

वह भारत जो हमारा सपना है

यह पुस्तक 2010 से 2017 के दौरान वरिष्ठ कवि-पत्रकार आलोक श्रीवास्तव के 'अहा जिंदगी' मासिक और इसी नाम से दैनिक भास्कर के साप्ताहिक परिशिष्ट में 2013 से 2017 तक लिखे संपादकीय आलेखों का संकलन है। इन पत्रिकाओं की अपने कथ्य, खासतौर पर कला, संस्कृति, दर्शन और साहित्य आदि से जुड़े राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य वाली सामग्री और कलात्मक गेटअप के लिए विशिष्ट पहचान बनी थी। पत्रिकाओं के कथ्य की विविधता के अनुरूप ही, इन संपादकीय लेखों में भी विषयों की विविधता है और पर्यावरण, शिक्षा, मिथक, दर्शन, साहित्य, कला-रूप और खेल जैसे विविध विषय इनमें शामिल हैं। लेकिन, जैसा कि इस पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है, 'भारत के सपने', उसके स्वरूप, उसकी पहचान का केंद्रीय तत्व इन आयामों को जोड़ता है।

'भारत की (आत्मा) खोज' विद्वानों का प्रिय विषय रहा है—नेहरू हों, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर हों, पंजाबी के क्रांति-धर्मा कवि पाश हों, या फिर बाशम जैसे संवेदनशील इतिहासकार हों। आलोक श्रीवास्तव भी भारत को पहचानने की कड़ियाँ जोड़ते हैं। उन्हें भारत एक मानव नस्ल, एक जातीय समूह, एक सांस्कृतिक पहचान नहीं, बल्कि मानव जाति का ही महामंडल लगता है। लेकिन अतीत के गुणगान तक सीमित न रहते हुए, उन्होंने यथार्थ का भी चिंतन किया है और भारत के बंधनों, अवरोधों और बीमारियों को भी चिह्नित किया है। उनकी नजर में, संक्षेप में, ये बीमारियाँ हैं—जाति-वर्ण के संस्कारों की जकड़न, गुजरे जमाने के शास्त्रों की मानसिक गुलामी, सामंती संस्कार, मानसिक गरीबी, श्रम की अवमानना, शहरीकृत मध्य वर्ग द्वारा एक ओर पश्चिम की नकल और दूसरी ओर सामंती मूल्यों की जकड़न, पश्चिम से उथला और अवसरवादी संबंध और हिंदुत्व की प्रतिगामी शक्तियों का विस्तार, साधनहीनों और समर्थों के बीच विभिन्न क्षेत्रों में देश का विभाजन और सूचना तथा ज्ञान-तंत्र पर भ्रष्ट शासक-वर्ग का कब्जा। निश्चय ही, बीमारियों की यह पहचान गहरी सोच से आई है। लेखक जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने और शोषण-अन्याय से मुक्ति की गांधी की मूल भावना का भी उल्लेख करते हैं।

अपने गंभीर लेखन में आलोक श्रीवास्तव भारतीय इतिहास के मूल स्रोतों तक पहुँच और इस्तेमाल पर बल देते हैं। उनका कहना है कि भारत का इतिहास महज उत्तर भारत का, जय-पराजय का, मिथकों-नायकों का, कुछ घटनाओं-प्रेरणाओं का ही इतिहास नहीं है। यह तो एक विराट देश का विराट काल-खंड में फैला जटिल इतिहास है। राष्ट्र-निर्माण की ओर बढ़ती अधूरी सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं और विराट देश के आत्म-संघर्ष और बाधाओं का इतिहास भी है।

जाहिर है, इस विराट विषय पर कोई अंतिम सच तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन इस 'खोज' को जारी रखना हमारी अस्मिता और समाधानों के लिए जरूरी है। छोटी-छोटी अलग-अलग संपादकीय टिप्पणियों में सीधे-सीधे यह विराट विषय नहीं उठाया गया है, लेकिन एक संपूर्ण माला के मनकों की तरह ये टिप्पणियाँ इसी विषय की समग्रता को, भारत की बहुआयामी पहचान को पुष्ट करते हैं।

यह पुस्तक 'वह भारत जो हमारा सपना है' के विराट प्रश्न पर आवश्यक और गंभीर चर्चा की कड़ियाँ जोड़ती है। यह चर्चा हमारी पहचान और भविष्य के निर्माण से भी जुड़ी है। इस अर्थ में यह एक गंभीर और महत्वपूर्ण पुस्तक है।

विश्वगुरु विवेकानंद

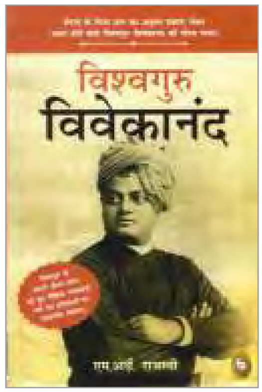

समीक्षक : **एम.ए. समीर**

लेखक : **एम.आई. राजस्वी**

प्रकाशक : फिंगरप्रिंट, नई दिल्ली

पृष्ठ : 368

मूल्य : रु. 179/-

स्वामी विवेकानंद एकमात्र ऐसे संत हुए हैं, जिनके द्वारा स्थापित की गई संस्था 'रामकृष्ण मिशन' आज भी जन-कल्याण के व्रत का पालन कर रही है। इस संस्था का प्रमुख कार्य जन-जन की सेवा, शिक्षा, मानसिक विकास और समाजीकरण के साथ लोगों को अध्यात्म की ओर प्रेरित करना रहा है। ऐसे विद्वान संत, संन्यासी और ऋषि जैसे संबोधनों से पुकारे जाने वाले स्वामी विवेकानंद पूर्णतया प्रतिकूल परिस्थितियों में ज्ञान का ऐसा दिव्य प्रकाश लेकर प्रकट हुए कि अज्ञानता का अंधकार उनके सामने से सिर झुकाकर निकल गया। उन्होंने वेदांत के प्रखर प्रकाश से भारत और यूरोप को ही नहीं, बल्कि विश्वभर को ज्ञान के प्रकाश से जगमगा दिया। संभवतः लेखक एम. आई. राजस्वी ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक का शीर्षक 'विश्वगुरु विवेकानंद' रखा है।

स्वामी विवेकानंद को 'विश्वगुरु विवेकानंद' कहना सर्वथा उचित है और इस पुस्तक में लेखक ने उनके राष्ट्रीय एवं विश्वस्तरीय कार्यों को समुचित ढंग से तथ्य, कथ्य तथा संपूर्ण सत्य के साथ प्रस्तुत किया है। विश्वभर के विभिन्न समाजों और देशों के बीच आपसी वैर-भाव, शत्रुता और घृणा बढ़ने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए विश्वगुरु 'कर्तव्य क्या है' नामक पाठ में स्पष्ट करते हैं–

"अपनी सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप एवं हृदय तथा मन को उन्नत बनाने वाले कार्य करना ही हमारा कर्तव्य है, परंतु यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि सभी देश और समाज में एक ही प्रकार के आदर्श एवं कर्तव्य प्रचलित नहीं हैं। इस विषय में हमारी अज्ञता ही एक जाति की दूसरी के प्रति घृणा का मुख्य कारण है।"

'विश्वगुरु विवेकानंद' नामक यह पुस्तक मुख्य रूप से चार खंडों में लिखी गई है। पहले खंड को लेखक ने 'विवेकानंद से विश्वगुरु तक' नाम दिया है। दूसरा खंड 'व्याख्यानमान', तीसरा खंड 'पत्रावलियाँ' और चौथा खंड 'कवितावलियाँ' है। पहले खंड में स्वामी विवेकानंद की प्रेरणाप्रद जीवनी है जिसमें उनके जन्म से लेकर शिक्षा ग्रहण करने, संन्यास लेने और विश्वधर्म सम्मेलन में भारत का भाल ऊँचा करने से लेकर विश्वगुरु बनने तक की यात्रा का वर्णन है। दूसरे खंड में भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक ज्ञान पर आधारित विश्वगुरु के विभिन्न व्याख्यानों में से चुने हुए कुछ प्रमुख व्याख्यान दिए गए हैं। तीसरे खंड में विश्वगुरु द्वारा लिखे गए कुछ चुने हुए विशेष पात्रों को प्रस्तुत किया गया है, जबकि चौथे खंड में गहन भावों एवं विचारों से ओत-प्रोत उनकी कुछेक कविताएँ दी गई हैं।

स्वामी विवेकानंद का जन्म उस संक्रमणकाल में हुआ था, जब भारत में जातिभेद, बाल-विवाह, सती प्रथा, अंधविश्वास और अंग्रेजों के अत्याचार चरम पर थे। ऐसे समय में विश्वगुरु विवेकानंद ने देश-विदेश में न केवल ज्ञान का प्रकाश फैलाया, बल्कि स्वतः अनुभूत प्रयोगों को भी फलीभूत किया। इस पुस्तक में लेखक ने स्वामी जी के आत्माभिमान के दमन का एक रोचक और हृदयग्राही प्रसंग प्रस्तुत किया है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि यह सभी हिंदी पाठकों, चाहे वे देश में रहते हों या विदेश में, के लिए एक अत्यंत पठनीय एवं संग्रहणीय पुस्तक है। पुस्तक की भाषा भी अत्यंत सरल, सहज एवं रस से परिपूर्ण है जिससे पाठक को पढ़ते हुए अपनेपन की अनुभूति होने लगती है।

सूरदास : कला और लोकजीवन

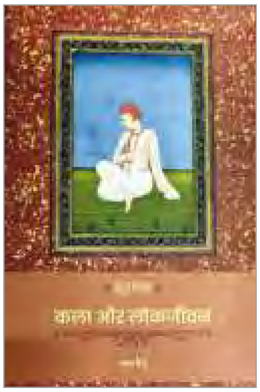

समीक्षक : **सदानन्द शाही**
लेखिका : **शान्ता सिंह**
प्रकाशक : लोकायत प्रकाशन, वाराणसी।
पृष्ठ : 144
मूल्य : रु. 250/-

'सूरदास : कला और लोकजीवन' स्व. प्रो. शान्ता सिंह की सद्यः प्रकाशित पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रकाशन ऐसे समय में हुआ है, जब काशी हिंदू विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग अपनी स्थापना के सौ वर्ष पूरे कर शताब्दी मना रहा है। प्रो. शान्ता सिंह इसी गौरवशाली हिंदी विभाग की यशस्वी छात्रा रही हैं। प्रो. शान्ता सिंह ने इस विभाग से उस समय पढ़ाई की जब वहाँ हिंदी के अध्ययन-अध्यापन और शोध का स्वर्ण काल चल रहा था। उन्होंने केशव प्रसाद मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और हजारीप्रसाद द्विवेदी के सान्निध्य में रहकर साहित्य का अध्ययन किया और मध्यकालीन साहित्य, विशेषतः भक्ति काव्य के अध्येता के रूप में अपनी पहचान बनाई। कहना न होगा कि मध्यकालीन विशेषतः भक्तिकालीन काव्य की केंद्रीयता की पहचान कराने में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के महान आचार्यों और उनकी शिष्य परंपरा का महत योगदान रहा है। इस कड़ी में प्रो. शान्ता सिंह का नाम प्रमुख है। हिंदी-विभाग काशी हिंदू विश्वविद्यालय के कृतकार्य आचार्य अवधेश प्रधान ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी है। इस दार्शनिक पृष्ठभूमि के आलोक में प्रो. शान्ता सिंह मानती हैं कि 'मनुष्य अपने आप में पूर्ण इकाई नहीं है, वह इस विराट विश्वात्मा का एक अंग है, उसके साथ तादाम्य और उसमें विसर्जन उसे शक्ति प्रदान करता है, जीवन को अर्थ देता है।' वे 'सूर साहित्य' की व्याख्या इसी उदात्त भूमि पर करती हैं।

'सूरदास : कला और लोकजीवन' आँखों को सुख देती है। केवल इसलिए नहीं कि पुस्तक का कवर नयनाभिराम है और छपाई बहुत अच्छी हुई है, बल्कि इसलिए भी कि यह पुस्तक कबीर बनाम तुलसी की बहस में मुब्तिला समय में सूरदास जैसे कवि को याद करने का बहाना देती है। यह बात तथ्य की तरह स्वीकृत है कि आज भी हिंदी कविता का सर्वोत्तम हासिल भक्ति कविता ही है। दो राय सिर्फ इस बात में है कि इस सर्वोत्तम को हासिल करने या कि ग्रहण करने की हमारी सलाहियत कितनी और कैसी रह गई है। यह बात इसलिए भी मन में आती है कि बिना उखाड़-पछाड़ के हम सहजता से कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं। बहुत समय तक हिंदी में 'सूर सूर तुलसी ससि' चलता रहा, जिसे आचार्य शुक्ल ने अनुप्रास के चमत्कार का लोभ कहकर बदल दिया। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका लिखकर सूर के महत्व का निरूपण किया है, अबूझ कारणों से सूर की चर्चा कम होती गई और चर्चा कबीर बनाम तुलसी होने लगी।

असल में आलोचना में होने वाली उखाड़-पछाड़ के पीछे जरूरी नहीं कि हमेशा तुलसीदास का 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'

वाला विवेक ही हो। यदि ऐसा होता तो क्या बात थी? इस विवेक-विरल समय में विवेकसम्मत होने की माँग को पुरानी रीति और प्रायः हानिप्रद उद्यम मान लिया गया है। इसलिए हमारी ग्रहणशीलता सुविधा और फायदा के तर्क से परिचालित होती है। मसलन यह जरूरी नहीं कि तुलसीदास की चर्चा करने वाले लोग तुलसीदास को जानते और मानते भी हों। बहुत से लोगों को तुलसीदास पहले से चले आ रहे समाजार्थिक आरक्षण को मजबूती देते हुए प्रतीत होते हैं, इसलिए वे तुलसीदास की पताका फहराते घूमते दिखाई देते हैं। इसी तरह कबीरदास पहले से चली आ रही सामाजिक हदबंदी को चुनौती देते नजर आते हैं और जनता के लिए सामाजिक-आर्थिक अंतराल रचते जान पड़ते हैं, इसलिए कुछ लोग कबीर का नाम लेते दिखाई देते हैं। पर सूरदास के शब्दों का सहारा लेकर कहें तो 'हरि हैं राजनीति पढ़ि आए', वाला मामला है। ऐसे में राजनीतिक रूप से सही दिखने के क्रम में सही दिखने और करने से परहेज करने लगते हैं।

प्रो. शान्ता सिंह की यह पुस्तक सूरदास को खुली आँखों से देखने प्रस्ताव करती है, बिना किसी आग्रह-दुराग्रह के। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की भूमिका में मध्ययुग के संतों के सामान्य विश्वास पर विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ है'। निर्गुण हों या सगुण प्रेम की भूमि पर सब समान भाव से विचरण करते हैं। भक्ति काल के सभी कवि हमें अंततः प्रेम की ओर प्रवृत्त करते हैं। इस क्रम में वे प्रेम के रास्ते में उपस्थित झाड-झंखाड़ साफ करते चलते हैं। सूरदास को भी इस झाड-झंखाड़ का इल्म था, लेकिन वे इनसे उलझने के बजाय प्रेम मार्ग में बाधा पहुँचाने वाली हर चीज को निरस्त करते हुए प्रेम के महोदधि तक की यात्रा करते हैं। सूरदास के प्रेम की चर्चा करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत अच्छी बात कही है—"सूरदास का प्रेम संयोग के समय सोलह आने संयोगमय है और वियोग के समय सोलह आने वियोगमय"। प्रो. शान्ता सिंह ने प्रेम के इस तादात्म्य को लक्षित किया है : "प्रेमानुभूति के पूर्ण तादात्म्य, तल्लीनता और आत्मविसर्जन की सर्वोत्तम आधारभूमि के रूप में वात्सल्य और दांपत्य भावों में से एक का केंद्र यशोदा, दूसरे का राधा"। लेखिका बताती हैं कि 'सूरदास ने दोनों के हृदय के स्पंदन को न केवल पकड़ा है, बल्कि खूबसूरती से व्यक्त किया है'। अंत में वे लक्षित करती हैं कि 'भक्ति मार्ग ने सांसारिकता के बीच मानव के सहज राग की उदात्तता की संभावना जगाकर, मानव जीवन के सहज रूप के प्रति आस्था व्यक्त की कि कृत्रिमता से मुक्त, स्वस्थ प्राणवान मानव जीवन की स्वीकृति भक्ति काव्य का महत काव्यादर्श है, जिसके सबसे समर्थ गायक सूरदास हैं। प्रो. शान्ता सिंह का यह विवेचन हमें यह सोचने के लिए उन्मुख करता है कि जब तुलसी के रामराज्य अथवा कबीर के बेगम देस का यूटोपिया अस्तित्व में आ जाएगा तब भी मानव के सहज राग की जरूरत बनी रहेगी और सूरदास की कविता उसे उद्दीप्त करती रहेगी।

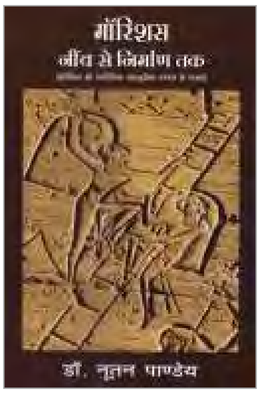

समीक्षक : **डॉ. रमेश तिवारी**

लेखिका : **डॉ. नूतन पाण्डेय**

प्रकाशक : स्टार पब्लिकेशंस प्रा.लि., नई दिल्ली।

पृष्ठ : 396

मूल्य : रु. 500/-

मॉरिशस : नींव से निर्माण तक

(मॉरिशस की साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा से संवाद)

'मॉरिशस : नींव से निर्माण तक' पुस्तक डॉ. नूतन पाण्डेय की अभिनव कृति है। इस पुस्तक के बहाने डॉ. पाण्डेय ने मॉरिशस के लगभग सभी महत्वपूर्ण साहित्यकारों से बातचीत करते हुए उनके जीवन और साहित्य कर्म के साथ-साथ उनके अन्य विषयों पर केंद्रित कुछ विचारों को भी इस पुस्तक में समाहित कर प्रवासी साहित्य क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया है। वर्तमान में लेखिका भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के अधीन केंद्रीय हिंदी निदेशालय में सहायक निदेशक के पद पर कार्यरत हैं।

लेखिका ने अपनी भूमिका में उल्लेख किया है कि 'मुझे पारंपरिक तौर पर लघु भारत कहे जाने वाले देश मॉरिशस में प्रवास करने का मनोनुकूल, पर्याप्त और सुखद अवसर मिला। साहित्यिक क्षेत्र से संबद्ध होने के कारण अपने इस प्रवास के दौरान यहाँ के हिंदी साधकों और उनके हिंदी प्रेम के आकर्षण में बँधना अत्यंत स्वाभाविक था। समय के साथ-साथ यहाँ के हिंदी वातावरण को करीब से जानने का अवसर मिला और मन में यह इच्छा जागृत होती गई कि इन सुनहरे अवसरों को लिपिबद्ध किया जाए...। लेखिका ने भूमिका में मॉरिशस के इतिहास, साहित्य और लेखन सभी पर विस्तार से लिखा है, जो उनकी अध्ययनशीलता का प्रमाण है। इस दृष्टि से लेखिका का यह प्रयास सार्थक प्रतीत होता है।

नवीनतम सर्वेक्षणों, गिरमिटिया के संक्षिप्त परिचय, 1834-1924 तक के 90 वर्षों के कालखंड में लगभग साढ़े चार लाख भारतीय मजदूरों की व्यथा-कथा, सारा जहाज, 39 यात्रियों के दल, पोर्टलुईस के इमीग्रेशन स्क्वायर, कुली घाट (अब अप्रवासी घाट) के प्रसंग को जिस रोचक अंदाज में लेखिका ने पाठकों के समक्ष रखा है, वह सराहनीय है। इसमें मजदूरों का जीवन-संघर्ष है तो जीवन-संघर्षों के पार निकलने की उनकी अदम्य जिजीविषा भी। 'भारतवंशियों के प्रवासन की इस संपूर्ण प्रक्रिया को समेकित रूप से विश्लेषित करने

पर कहा जा सकता है कि भारतीय मूल के ये लोग न तो विश्व विजय करने निकले थे, न जबरन धर्म-प्रचार के लिए और न ही अपनी भाषा और संस्कृति के किसी अन्य पर आरोपण के लिए। लेकिन यह भी आश्चर्यजनक और सुखद संयोग से कम नहीं है कि जहाँ-जहाँ ये गए वहाँ-वहाँ अत्यंत सहज और स्वाभाविक ढंग से अपनी भाषा और संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन करते गए।'

इस कृति में मॉरिशस के कुल 21 प्रमुख साहित्यकारों के साक्षात्कारों में पहला साक्षात्कार मॉरिशस के प्रख्यात साहित्यकार अभिमन्यु अनत का है। शीर्षक है 'आईने के सामने अभिमन्यु का अभिमन्यु से साक्षात्कार'। साक्षात्कार का आशय यह है कि अभिमन्यु के सवालों का जवाब भी अभिमन्यु ही दे रहे हैं। इस संवाद में कई महत्वपूर्ण बिंदुओं को अभिमन्यु अनत ने बड़ी ही ईमानदारी से स्पष्ट करने की कोशिश की है। यह पूरा साक्षात्कार संवाद शैली में प्रस्तुत है। बानगी देखने लायक है—

अभि : लेखन तुम्हारे लिए क्या है?

मन्यु : बिजली के तार पर चलना।

अभि : तुम अपनी रचनाओं की सार्थकता किसमें मानते हो?

मन्यु : बस यह जीवन को बेहतर बनाने का संकेत दे दे।

अभि : क्या बदतर को मिटाने का उपाय भी उसका दायित्व नहीं होता?

मन्यु : हर आदमी को अपना उपाय खुद ढूँढ़ना है।

अभि : तो फिर लेखक?

मन्यु : शोषित मानव शोषण का आदी होकर उसे जीवन की स्वाभाविकता मान लेता है और उस लिजलिजेपन को संतोष के साथ जीता रहता है। लेखक उसके कानों में सिर्फ इतना ही कहता है कि जिसे वह भाग्य का लेख समझता है, उसे तोड़ना है। यह ईश्वरीय व्यवस्था नहीं है। यह चेतना वह देना चाहता है। इसके बाद उपाय और सक्रियता आदमी की अपनी जिम्मेदारी होती है। लेखक तो केवल इतना कहेगा कि भाई, तुमने जूते उलटे पहन रखे हैं। वह जूते पहनाएगा तो नहीं!

अनत जी के शब्दों में लेखक 'मानव मस्तिष्क का इंजीनियर' है। जैसे इंजीनियर का काम पुल बनाना होता है वैसे ही लेखक का काम पत्थर और सीमेंट के स्थान पर विचारों और रिश्तों का पुल बनाना है। व्यवस्था की खिलाफत के प्रश्न पर उनका जवाब गौरतलब है, "मैं आम आदमी के पक्ष में चिल्लाता हूँ।" इस प्रकार के साक्षात्कारों को पढ़ते हुए हमें साहित्य को, साहित्यकार को, उसके लेखन और मिजाज को उसी के कथनों से जानने-समझने का सुअवसर मिलता है।

इस पुस्तक में सम्मिलित मॉरिशस के प्रतिष्ठित साहित्यकारों को अकारादिक्रम में अभिमन्यु अनत, इंद्रदेव भोला,...कल्पना लालजी, प्रह्लाद रामशरण, ब्रजलालधनपत, राज हीरामन, रामदेव धुरंधर, विनोद बाला अरुण, सरिता बुद्धु, हनुमान दूबे गिरधारी, हेमराज सुंदर आदि साहित्यकारों के साक्षात्कारों से पाठकों को निश्चय ही अपनी दृष्टि समृद्ध करने में मदद मिलेगी। कुल मिलाकर यह कृति डॉ. नूतन पांडेय के श्रम-संवेदना-समर्पण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है जो मॉरिशस हिंदी साहित्य में रुचि लेने वाले समाज को बहुत रोचक और नई जानकारी उपलब्ध कराने में सफल होगी।

समीक्षक : **बीरेन्द्र कुमार चौधरी**

लेखक : **गुन्देजा बन्धु**

प्रकाशक : मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल।

पृष्ठ : 146

मूल्य : रु. 299/-

सुनता है गुरु ज्ञानी

भारतीय संस्कृति न केवल विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में सबसे प्राचीन है, बल्कि सबसे महान भी है। इसकी यह महानता महज भवन निर्माण और सर्वोत्तम शहरी व्यवस्था तक सीमित नहीं, बल्कि कला-संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, खगोलशास्त्र, ज्योतिष, वैदिक दर्शन एवं जीवन पद्धति, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में भी है। बात यदि संगीत के क्षेत्र की हो तो उसमें तो यह उस स्तर तक पहुँचा है जहाँ तक विश्व आज भी नहीं पहुँच पाया है। आज जिस संगीत थैरेपी से कई असाध्य रोगों की उपचार की बातें की जाती है, वह उपचार पद्धति हमारे यहाँ सदियों पुरानी है। हमारे यहाँ न केवल सुरों के आरोह-अवरोह और लय-ताल पर विस्तार से चर्चा की गई है, बल्कि इसके स्वरों और स्वरों के बीच की दूरी जैसे सूक्ष्म विषयों पर भी विस्तार से विवेचना हुई है। स्वरों को क्रम से रखकर रागों की विस्तृत रचना की गई और इन रागों के अधीन रागनियों की भी। संगीत जगत में जो अनूठा प्रयोग हमारी संस्कृति में हुआ है वैसा किसी अन्य संस्कृति में नहीं। आज की पीढ़ी जिस पाश्चात्य धुनों वाले पॉप संगीत पर थिरकती नजर आती है उसमें वह बात कहाँ जो हमारे शास्त्रीय संगीत में है। पाश्चात्य संगीत में जहाँ मनुष्य सिर से पाँव की ओर थिरकता है तो वहीं भारतीय शास्त्रीय संगीत की धुन पर यह थिरकन उसके पैर के अंगूठे से जो आरंभ होकर सिर तक पहुँचती है और हमारे मनोमस्तिष्क को एक साथ थिरकाती है। इसके धुन और ताल का हम पर ऐसा मनोहारी प्रभाव होता है कि हमारा मनोमस्तिष्क झंकृत हो उठता है और आत्मा पूर्ण तृप्ति का अनुभव करती हुई परमानंद को प्राप्त करने लगती है। मनुष्य अपना सुध-बुध तक खो बैठता है।

हमने तानसेन और बैजू बाबरा को न ही देखा है और न ही सुना है, पर उनके नामों और संगीत को दिए गए योगदानों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते लोगों को आए दिन अवश्य सुनते हैं। मगर आज के समय में हम पंडित जसराज, अल्ला रक्खा खाँ, अमजद अली खाँ, हरिप्रसाद चौरसिया जैसी महान विभूतियों को रेडियो अथवा फिल्म संगीत के माध्यम से ही सही, अवश्य सुना है। संगीत के प्रति दिए गए इनके योगदानों को कभी कमतर नहीं कहा जा सकता। ये वो विभूतियाँ हैं जिन्होंने भारतीय शास्त्रीय संगीत को न केवल देश में पुनर्जीवित किया, बल्कि विश्व फलक पर मान्यता दिलाई। इनके संगीत सुनने के लिए ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के लोग लालायित रहते हैं और आए दिन वहाँ इन महान संगीतकारों के संगीत कार्यक्रम होते ही रहते हैं। लेकिन इसे हम सबसे बड़ी विडंबना ही कहेंगे कि जिस संगीत और संगीतकारों की प्रतिष्ठा भारत से हजारों मील दूर है, उसे सँजोने और सँवारने वालों के बारे में साहित्य जगत में नहीं के बराबर लिखा गया है। कारण संगीत साधक तो अपनी साधना में तल्लीन होते हैं और वे गाने में विश्वास रखते हैं, पर साहित्य साधक समाज और देश के प्रति उनके योगदानों को सँजोने की भी जरूरत नहीं समझते। यह एक कटु सत्य है कि साहित्य की विभिन्न विधाओं पर तो बहुत सारे लोग लिखने वाले हैं, पर इन विभूतियों के बारे में लिखने वाले नहीं के बराबर। इसी दिशा में गुन्देचा बन्धु द्वारा लिखित पुस्तक 'सुनता है गुरु ज्ञानी' अपने आप में अनुपम है। साक्षात्कार की शैली में लिखी गई यह पुस्तक पाठकों को संगीत के प्रति आकर्षित करती है। गुन्देचा बन्धु स्वयं भी संगीत के अच्छे जानकार हैं और संगीत की बारीकियों से परिचित भी। यही कारण है कि उन्होंने संगीत के हर पहलू को इस पुस्तक में उठाने का भरपूर प्रयास किया है। इसमें कोई शक नहीं कि एक संगीतकार द्वारा अन्य संगीतकारों का लिया गया साक्षात्कार अपने आप में अनुपम है।

निश्चय ही 'किसी कला में कलाकार की अंतरंग और अभिज्ञ संवेदना जब प्रश्न और विचार की ओर बढ़ती है तो उसकी खोज में एक सहज आत्मसंधान होता है। जहाँ कला अपने पर ही प्रश्न करती हुई अपने ही को खोजती है, अपने को और खोलना चाहती है।' इस पुस्तक में ऐसा ही प्रतीत होता है कि संगीत कला जो संगीत साधकों और उसके सुनने वाले सुधि श्रोताओं तक सिमटी थी, निश्चय ही वह खुद को खोलती हुई प्रतीत होती है। अपनी संगीत साधना के बारे में लिखने का शायद इन संगीतज्ञों का मन ही नहीं करता। गाने-बजाने की यह प्रक्रिया देश के विभिन्न संगीत घरानों में सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है और वे इस संगीत को लगातार संरक्षण देते आ रहे हैं। चाहे वह घराना डागर घराना हो या जयपुर घराना या फिर कोई और। लेखक ने हर घराने और हर वाद्य यंत्रों को साधने वाले साधकों से इस पुस्तक में विस्तार से बात की है फिर वह पंडित मुकुल शिवपुत्र हों या उस्ताद रहीम फ़हीमुद्दीन डागर, पंडित देबू चौधरी, पंडित शिवकुमार शर्मा, विदुषी किशोरी अमोणकर, पंडित भीमसेन जोशी, उस्ताद अमजद अली खाँ, पंडित हरिप्रसाद चौरसिया, पंडित सुरेश तलवलकर, पंडित जसराज और उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर हों। इन सभी लब्धप्रतिष्ठित कलाकारों ने अपनी संगीत साधना के संघर्षों और उपलब्धियों के बारे में लेखक से खुलकर बात की है। संगीत की बारीकियों को समझाने का प्रयास किया है और सुर, लय, ताल, नाद, आरोह, अवरोह आदि विभिन्न बारीक पहलुओं पर विस्तार से बातें की हैं। राग भैरवी और राग धनाश्री जैसे अनेक रागों के सूक्ष्म भेद के बारे में बताया है। पंडित हरिप्रसाद चौरसिया ने संगीत में संयोजन की बारीकियों के बारे में विस्तार से जो समझाया है, वह अपने आप में अनूठा ज्ञान है। राग में स्वरों की भूमिका, एक स्वर से दूसरे स्वर के बीच की दूरी, स्वरों के क्रम से रागों की उत्पत्ति का ज्ञान, स्वरों के आरोह-अवरोह से रागों के भेद आदि का ज्ञान विस्तार से इस पुस्तक में दिया गया है। पुस्तक की भाषा-शैली अत्यंत सहज, सरल और सुबोध्य है। संगीत एवं संगीत घरानों के ज्ञान की दृष्टि से यह पुस्तक पठनीय है।

कण्व की बेटी

समीक्षक : **रमेश कुमार सिंह**

लेखक : **शैलेश कुमार मिश्र**

प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

पृष्ठ : 99

मूल्य : रु. 325/-

मिथक और मिथकीय चरित्र हमारे मन में इस तरह रचे-बसे होते हैं कि उन्हें बार-बार देखना, पढ़ना, सुनना और किसी नए दृष्टिकोण से समझना हमें अच्छा लगता है। ये चरित्र शाश्वत मानवीय भावनाओं और सामाजिक मूल्यों के प्रतिनिधि लगते हैं। इसीलिए इनकी कहानियाँ थोड़े बदलाव के साथ हर युग में लिखी जाती रही हैं। पुराणों और प्राचीन महाकाव्यों के बहुत-से चरित्र आधुनिक साहित्यिक विधा उपन्यास के भी विषय बने हैं। इन पर अनेक लोकप्रिय और कालजयी उपन्यास लिखे गए हैं।

समीक्ष्य उपन्यास 'कण्व की बेटी' भी एक ऐसे ही मिथकीय चरित्र शकुंतला के जीवन पर केंद्रित है। शकुंतला ऋषि विश्वामित्र और इंद्रलोक की अप्सरा मेनका की पुत्री थी। माता-पिता द्वारा परित्यक्त शकुंतला का पालन-पोषण कण्व ऋषि ने किया। शकुंतला के व्यक्तित्व-निर्माण में उसके पालक पिता कण्व का सर्वाधिक योगदान था। अतः उपन्यासकार ने उसे 'कण्व की बेटी' कहा है।

शकुंतला का आख्यान आदिकाल से आज तक थोड़े-बहुत कथांतर के साथ विविध विधाओं में सृजन का विषय रहा है। इस कथा का स्रोत महाभारत का आदिपर्व है। शकुंतला-केंद्रित साहित्य में कालिदास कृत संस्कृत नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' सर्वाधिक लोकप्रिय है। यह एक विश्वप्रसिद्ध कृति है। कालिदास ने महाभारत की शकुंतला की कथा को नए आयाम दिए हैं। उन्होंने इसमें राजा दुष्यंत की जगह क्रोधी ऋषि दुर्वासा को खल चरित्र बना दिया है। इस नाटक में दुर्वासा के शाप से उत्पन्न दुष्यंत की विस्मृति उसकी लंपटता को ढँकने का आवरण बन जाती है। 'कण्व की बेटी' उपन्यास में आशुरोष ऋषि दुर्वासा के शाप-प्रकरण को शामिल नहीं किया गया है। इस कारण दुष्यंत का शकुंतला से अपने विवाह को भूल जाने और अंगूठी के मिलने पर पुनः याद आने की घटनाएँ अति नाटकीय हो गई हैं।

उपन्यास का कथानक यूँ है कि ऋषि विश्वामित्र के कठोर तप से चिंतित देवराज इंद्र उनका तप भंग करने के लिए अप्सरा मेनका को धरती पर भेजते हैं। मेनका अपने उद्देश्य में सफल होती है। विश्वामित्र के संसर्ग से वह एक पुत्री को जन्म देती है, लेकिन जन्म देते ही उसे छोड़कर वह स्वर्ग लौट जाती है। माता-पिता द्वारा परित्यक्त उस असहाय शिशु को शकुंत (पक्षी) अपने पंखों से ढँककर रक्षा करते हैं। ऋषि कण्व उसे अपने आश्रम में ले आते हैं और शकुंतों द्वारा रक्षित उस कन्या का नाम 'शकुंतला' रखते हैं। शकुंतला कण्व आश्रम के पवित्र प्राकृतिक वातावरण में पलकर बड़ी होती है।

एक दिन रूप गुणसंपन्न युवा शकुंतला को देखकर आखेट के लिए वन में आया हस्तिनापुर नरेश दुष्यंत उस पर मोहित हो जाता है। दोनों गंधर्व विवाह कर लेते हैं। दुष्यंत शकुंतला को प्रेम-प्रतीक के रूप में राजमुद्रिका देता है और शीघ्र लौटने का वचन देकर राजपाट के लिए लौट जाता है। यहाँ तक कि राजदरबार में गई गर्भवती शकुंतला को पहचानने से भी इनकार कर देता है। निष्कलुष प्रकृति-कन्या शकुंतला शहरी सभ्यता के संपर्क में आते ही छली जाती है।

पति द्वारा विस्मृत, लांछित और परित्यक्त शकुंतला के जीवन में एक नया मोड़ आ जाता है। इस अप्रत्याशित आघात के अपमान से उसका फूल-सा हृदय वज्र से भी अधिक कठोर हो जाता है। हालाँकि उसके मन में प्रतिशोध की भावना नहीं आती। वह स्वयं को सँभालने और अपने पेट में पल रहे हस्तिनापुर के भावी सम्राट की परवरिश की चुनौती स्वीकार करती है। कालक्रम में दुष्यंत के चरित्र में बदलाव आता है, लेकिन शकुंतला का मन अब शांत, सुदृढ़ और स्थिर है। उसके हृदय में प्रेम और 'आंचल में दूध' है, लेकिन आँखों में आँसू नहीं हैं। वह पुरुष नियंत्रित व्यवस्था की निर्दयता से विद्रोह करती हुई आगे बढ़ गई है।

कालांतर में शकुंतला की खोई अंगूठी एक मछुआरे द्वारा दुष्यंत को मिल जाती है। अंगूठी देखकर शकुंतला के प्रति उसकी विगत स्मृति लौट आती है। मूल कथा में शकुंतला शेष जीवन दुष्यंत की राजरानी के रूप में बिताती है, लेकिन उपन्यासकार ने इस अंत को बदल दिया है। महाभारत और अभिज्ञान शाकुंतलम् की तरह यहाँ शकुंतला-कथा सुखांत नहीं है। छिन्नमूल, सूखी लता-सी श्रीहीन शकुंतला को देखकर दुष्यंत का पश्चाताप दुगुना हो जाता है। पाठक का मन भी सन्न रह जाता है, जब शकुंतला अपने जीवन की एकमात्र आशा, अपने पुत्र भरत को भी उसी छली पति को सौंपकर अनंत एकाकी जीवन का वरण कर लेती है। कथानक में नया मोड़ देने से स्त्री-विमर्श और स्त्री-अस्मिता के तीखे सवाल उस युग से उभरकर आज के पुरुष प्रधान समाज तक आ गए हैं।

लेखक ने मूल कथा के अनेक दैवी-प्रसंगों और संयोगों को भी छोड़ दिया है और उसे यथार्थ से जोड़ा है। लेखक अपने दृष्टिकोण से कहानी को एक अलग कोण देने में बहुत हद तक सफल हुआ है।

अश्वत्थामा का अभिशाप

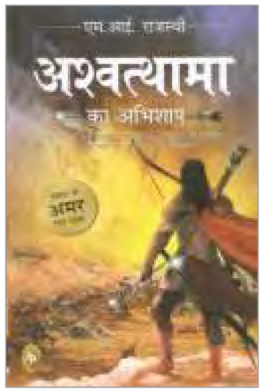

समीक्षक : **एम.ए. समीर**

लेखक : **एम.आई. राजस्वी**

प्रकाशक : फिंगरप्रिंट, नई दिल्ली।

पृष्ठ : 316

मूल्य : रु. 199/-

अश्वत्थामा के बारे में यह जनश्रुति है कि वे अमर हैं। हिंदू धर्म के प्रमुख ग्रंथ 'महाभारत' के कई प्रसंगों में आता है कि अश्वत्थामा को अमरत्व प्राप्त है, लेकिन उन्हें यह अमरत्व वरदानस्वरूप नहीं, बल्कि अभिशाप के रूप में मिला था। महाभारत की जानकारी रखने या महाभारत पढ़ने वाले प्रायः सभी लोग जानते हैं कि पांडवों के पाँच पुत्रों की हत्या करने और अभिमन्यु के गर्भस्थ शिशु पर प्राणघातक 'ब्रह्मशिरा अस्त्र' से प्रहार करने के कारण ही श्रीकृष्ण ने अश्वत्थामा के मस्तक से मणि निकालकर अमरता का अभिशाप दिया था, ताकि अश्वत्थामा के मस्तक का घाव चिरकाल तक रिसता रहे और दंडस्वरूप वे सदैव तड़पते रहें।

'अश्वत्थामा का अभिशाप' नामक पुस्तक में लेखक एम.आई. राजस्वी ने अश्वत्थामा की अमरता और चारित्रिक विशेषताओं को आधार बनाया है। अश्वत्थामा की भाँति ही कुछ अन्य पौराणिक पात्र

भी अमर हैं, लेकिन उनकी अमरता अभिशाप के रूप में नहीं, बल्कि वरदानस्वरूप है। उनमें से छह प्रमुख अमर पात्रों—हनुमान, वेदव्यास, परशुराम, विभीषण, कृपाचार्य और महाराजा बलि को अश्वत्थामा के साथ स्थापित करके लेखक ने 'ब्रह्मांड के अमर सप्त रक्षक' बनाया है।

लेखक ने इस पुस्तक के द्वारा यह विचार प्रकट किया है कि ईश्वर और प्रकृति कभी अनर्थकारी निर्णय नहीं लेते, वरन् उनके अनर्थ में ही गंभीर अर्थ छिपा रहता है। श्रीकृष्ण ने अश्वत्थामा को जो अमरता का वरदान दिया था, वह उनके द्वारा जन-कल्याणकारी कार्य करने से धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा। अश्वत्थामा का पृथ्वी पर साथ देने के लिए धृतराष्ट्र के पुत्र युयुत्सु का पुनर्जन्म होता रहेगा। युयुत्सु इस जन्म में एक पत्रकार प्रभास के रूप में जन्म लेकर अश्वत्थामा का मित्र बनता है। दूसरी ओर नियति-चक्र द्वारा संचालित होकर छह अन्य अमर पौराणिक पात्र अश्वत्थामा के साथ संबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार 'ब्रह्मांड के अमर सप्त रक्षक' का स्वरूप पूर्ण होता है।

'अश्वत्थामा का अभिशाप' का आरंभ मीडिया में अश्वत्थामा के जीवित होने की खबर के वायरल होने से होता है। इस कड़ी में दावा किया जाता रहा है कि अश्वत्थामा को मध्य प्रदेश के बुरहानपुर में असीरगढ़ के किले के आस-पास के बीहड़ में देखा जाता रहा है। बहुत से लोग उन्हें देखने का दावा करते हैं, परंतु प्रमाण किसी के पास नहीं है। उनसे जुड़ी कई कहानियाँ आंचलिक क्षेत्रों में प्रचलित हैं। कोई कहता है कि अश्वत्थामा को देखने वाला अंधा हो जाता है तो कोई गूँगा हो जाने की पुष्टि करता है।

ऐसे में दिल्ली के एक नए चैनल का पत्रकार प्रभास अश्वत्थामा की खोज के लिए बुरहानपुर पहुँच जाता है। यह नक्सल प्रभावित क्षेत्र है। यहाँ आकर प्रभास नक्सली नेटवर्क के बारे में कुछ रहस्य जान जाता है। एक दिन वह अपने मूल मिशन में कामयाब हो जाता है और अश्वत्थामा से साक्षात्कार करता है। अश्वत्थामा जब सामने आता है तो घटना इस प्रकार घूमती है कि वह महायोद्धा शिवभक्त एक शिवद्रोही को दंड देने के लिए उत्तर कोरिया चला जाता है। उत्तर कोरिया का तानाशाह, जो दुनिया को हाइड्रोजन बम बनाकर भयभीत कर रहा है, अपने ही देशवासियों को प्रतिबंधित जीवन जीने के लिए विवश करता है। ऐसे में अश्वत्थामा न केवल उसके अहंकार को चूर-चूर करते हैं, बल्कि उसकी आयुधशाला को जलमग्न करके संसार को उसके शस्त्र-भंडार से मुक्ति भी दिलाते हैं।

विश्व-रक्षक की भूमिका में आ चुके अमर महायोद्धा विश्व के स्वेच्छाचारी शासकों को संदेश देते हुए स्पष्ट कहते हैं—"हम चाहते हैं कि स्वेच्छाचारी शासकों तक यह संदेश पहुँचे कि उन्होंने शक्ति के अहंकार में मानवता को पीड़ित किया तो हम 'ब्रह्मांड के सप्त रक्षक' उसे दंडित करेंगे। हम नियति द्वारा नियुक्त शांति की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध हैं।"

जनहित के मुद्दों से जुड़े पत्रकार की सृजनात्मक यात्रा

भारत डोगरा जनहित के मुद्दों को बड़ी सजगता से उठाने वाले एक वरिष्ठ पत्रकार हैं, और पिछले चार दशकों से लगातार सक्रिय हैं। विभिन्न जन-आंदोलनों में सहयोगी रहे डोगरा जी स्वयं आंदोलन कर्मियों के साथ हफ्तों-महीनों रहकर वहाँ की कवरेज करते रहे हैं। इन्हीं हक की लड़ाई लड़ने वालों के बीच उठते-बैठते उनकी सहृदय नजर ने ऐसा कुछ देखा-सुना कि उसे लिखने के लिए उन्हें रिपोर्ट/लेख कम और अधूरे लगे, तब उन्होंने उसे कविताओं और कहानियों में व्यक्त करने की कोशिश की। उनकी इसी सृजनात्मक यात्रा को प्रस्तुत करती हैं उनकी दो पुस्तकें—'सच्चाई की कसम और अन्य कहानियाँ' (कहानी-संग्रह) एवं 'कठिन दौर में उम्मीद' (कविता-संग्रह)।

***समीक्षक :** अजय कुमार शर्मा; **लेखक :** भारत डोगरा; **प्रकाशक :** सोशल चेंज पेपर्स, नई दिल्ली।*

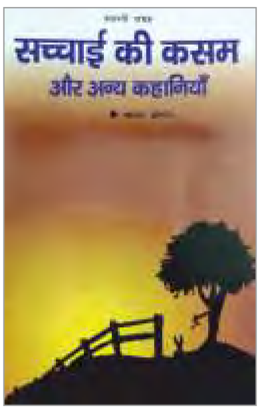

पृष्ठ : 120

मूल्य : रु. 100/-

सच्चाई की कसम

और अन्य कहानियाँ

(कहानी संग्रह)

कहानी-संग्रह में 17 कहानियाँ हैं। छोटी-छोटी इन कहानियों में जान-बूझकर "घटनाओं" और "लच्छेदार भाषा के मुहावरे" जैसे 'मसाले' नहीं डाले गए हैं... भाषा बहुत सीधी-सादी है जैसे अपने आम जीवन में हम प्रयोग करते हैं। पात्र भी सरल और सहज हैं। आस-पास की बुराइयों, अत्याचारों और शोषण के खिलाफ सहज रूप से निपटने को तैयार, बिना हिंसा या शोर-शराबे के। समाज में फैली असमानता पर बेबाक टिप्पणियों के साथ ही उनके सहज समाधान भी प्रस्तुत किए गए है। उन्हें पाठकों के विवेक पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए नहीं छोड़ा गया है।

पहली कहानी जिस पर संग्रह का शीर्षक रखा गया है 'सच्चाई की कसम' सरकारी दफ्तरों में फैले भ्रष्टाचार को रेखांकित करती है। अन्य कहानियाँ जैसे 'एक रात'—नौकर-नौकरानियों के साथ मालिकों का अभद्र व्यवहार, 'बापू का थैला'—एक समाज-सेवी की असफलता, 'एक शाम'—सिरफिरे आशिकों द्वारा हिंसा, 'रेलयात्रा का मित्र'—युवाओं को अहिंसा की शिक्षा, 'नया वर्ष'—केवल अपने स्वार्थ एवं हित के बारे में सोचने की प्रवृत्ति को छोड़ने का संकल्प, 'सबसे

सुखी दिन'—मुआवजे के पैसे का युवाओं द्वारा दुरुपयोग, 'खंडहर'—वृद्ध लेखक की मृत्यु के बाद उसके लेखन को रद्दी में बेचना आदि सच्चाइयों को प्रस्तुत किया गया है। 'हवेली' और 'मैं कौन हूँ' जहाँ लघुकथाएँ हैं वहीं 'गुट्टी दाई का कुआँ' कहानी में बाँदा (बुंदेलखंड) की एक सच्ची घटना को प्रस्तुत किया गया है जिसमें एक तिरस्कृत विधवा पानी की समस्या से जूझते एक गाँव में अपनी तीर्थयात्रा के लिए जोड़े गए पैसों से कुआँ बनवाती है। 'सहयात्री' कहानी में भूस्खलन से प्रभावित उत्तराखंड में एक नानी और उसकी नातिन की कहानी बयाँ की गई है। 'पैसा नहीं प्यार', 'हमसफर' कहानियों में पति-पत्नी को एक-दूसरे के कार्यों का सम्मान और आपसी सहयोग की जरूरत का खाका खींचा गया है। कुल मिलाकर गिरते सामााजिक एवं नैतिक मूल्यों के दौर में बुनियादी जीवन-मूल्यों को बचाए रखने का संदेश देती इन कहानियों में मानवीय संबंधों और आदर्शों को निभाने की अपील भी है।

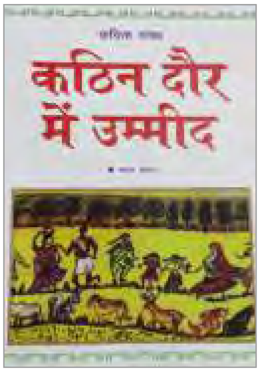

पृष्ठ : 112

मूल्य : रु. 100/-

कठिन दौर में उम्मीद

प्रस्तुत कविता-संग्रह—'कठिन दौर में उम्मीद' में भारत डोगरा द्वारा लिखित 71 कविताएँ शामिल हैं। इनमें कुछ गीत भी हैं। सामाजिक संघर्षो एवं समाज-सुधार अभियानों से जुड़ी इन कविताओं और गीतों में असमानता, बेरोजगारी, खेत मजदूरों-किसानों, विस्थापितों, स्वास्थ्य समस्याओं, शराब नीति एवं बीज बचाओ आंदोलनों से उपजे सवालों को आवाज दी गई है। कुछ तो समधुर गीत हैं जिन्हें इन आंदोलनों में सामूहिक रूप से गाया भी जाता रहा है। ये कविताएँ केवल नारे नहीं लगातीं, बल्कि बदलाव की प्रार्थना करती प्रतीत होती हैं। असमानता पर धर्म, नेता, सरकारों से अपने अधिकारों की रक्षा की अपील करती हैं ये कविताएँ। ये कविताएँ समय-समय पर साप्ताहिक हिंदुस्तान से लेकर अन्य प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं तथा जनआंदोलनों से जुड़ी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी होती रही हैं।

कहानी और कविता के ये दोनों संग्रह इसलिए और महत्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि इसे इसके प्रत्यक्षदर्शी और सहयोगी पत्रकार ने अपनी संवेदनशील कलम से लिखा है।

कादम्बिनी

(कविता-संग्रह)

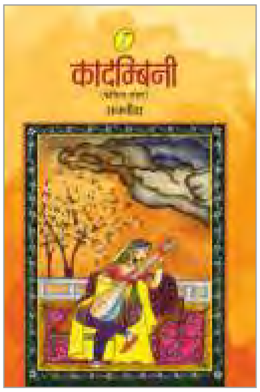

समीक्षक : **दीपक मंजुल**

लेखक : **अवनीश**

प्रकाशक : इंडिका इन्फोमीडिया, नई दिल्ली।

पृष्ठ : 216

मूल्य : रु. 400/-

सृष्टि के आरंभ के बाद मनुष्य ने अपनी भावनाओं की पहली अभिव्यक्ति काव्य में की, यदि यह कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। विश्व की प्रथम भाषा संस्कृत मानी गई है और ऋषि वाल्मीकि को आदिकवि। प्रसंग यह है कि वाल्मीकि जब तमसा नदी के किनारे स्नान करने गए तो वहाँ एक व्याधा द्वारा मैथुनरत क्रौंच में से नर क्रौंच को बाण चलाकर मार डालने का हृदयविदारक दृश्य उन्होंने देखा। इससे दुखी, व्यथित और मर्माहत वाल्मीकि के मुख से दो पंक्तियों का एक श्लोक फूट पड़ा। शोकाकुल, द्रवित और करुणाविगलित वाल्मीकि के मुख से निकली ये काव्य-पंक्तियाँ ही 'रामायण' की रचना का प्रस्थानबिंदु बनीं। इस तरह, करुणा से काव्य उद्‌गमित हुआ। जन्म के समय एक शिशु का रुदन जिस लय और संगीतमय रूप में होता है वह शिशु की पहली कविता ही होती है। हमारे यहाँ 'आह' से गान के उपजने की कल्पना है और आँखों से चुपचाप बह निकलने वाले आँसू में भी कविता का रूपक देखा गया है। कहना न होगा कि मनुष्य की पहली भावाभिव्यक्ति कविता की भावभूमि से ही हुई है। हमारे अधिकतर साहित्यकारों के लेखन की पहली विधा कविता ही रही है, तब जाकर वे कथा, उपन्यास, नाट्य या आलोचना आदि विधा की ओर मुड़े।

प्रस्तुत काव्य-संग्रह के रचनाकार कवि अवनीश भी कवि पहले हैं, कथाकार, उपन्यासकार या नाटककार बाद में। आज जबकि कविता के क्षेत्र में उठा-पटक और ऊहापोह की घनघोर स्थिति बनी हुई है, ऐसे में कलम के कुछ श्रमजीवी चुपचाप अपना काम कर रहे हैं और कविता को बचाए हुए हैं। अवनीश हिंदी कविता का एक ऐसा ही अनाम और अनजाना नाम तथा चेहरा है जो अल्प वयस से ही बिना शोरगुल के अलग-थलग रहकर चुपचाप लेखन कर रहा है। मानवीय मूल्यों के घनघोर अधोपतन के इस दौर में परंपरागत और नैतिक मूल्यों से लबरेज व वैचारिक-दार्शनिक एवं साहित्यिक रचनाधर्मिता के क्षेत्र में अवनीश को अलग से ही देखा और पहचाना जा सकता है। इनकी आवाजाही कविता के अलावा कथा, उपन्यास, नाटक के आँगन में भी है और ये हिंदी के अलावा मैथिली, उर्दू व अंग्रेजी में भी समान भाव से लेखन कर रहे हैं। अवनीश यों तो विज्ञान एवं प्रबंधन के छात्र रहे हैं, किंतु ज्योतिष विद्या के प्रति उनकी विशेष

अभिरुचि है। ज्योतिष विद्या में अपने विशेष ज्ञान-कौशल का उपयोग वे समाज-सेवा में करते हैं।

कवि की समीक्ष्य पुस्तक का शीर्षक है—कादम्बिनी। कादम्बिनी मेघ राग की एक रागिनी का नाम है। कादम्बिनी का एक अर्थ मेघमाला या मेघों की सरणी भी है। यों, काव्य-संग्रह में कृति-शीर्षक नाम से कोई कविता नहीं है, किंतु कविताओं की माला जैसा होने से कृति-शीर्षक सही अर्थों में तर्कसंगत है।

'कादम्बिनी' से होकर गुजरते हुए अनुभूति होती है मानो भाव-वैविध्य और विचार-वैविध्य के भरे-पूरे संसार से होकर गुजर रहे हों। यों तो संग्रह की कविताओं में प्रकृति-विकृति, स्मृति-विस्मृति, राग-रंग, विसंगति और विडंबना आदि तो दिखती ही है, पर कवि का माँ-पिता के प्रति प्रेम और अनुराग संग्रह की विशिष्टता कही जाएगी। एक उदाहरण देखिए—खूब पता है तेरा अम्मा/भूखा बेटा कहाँ रहेगा/आज रोटियाँ नहीं मिलेंगी/गुस्से का घी-पुए तलेगा। अपनी कविताओं के बारे में कवि कुछ यों भाव प्रकट करता है—वो मेरी धमनी की धारा है/तुमको कविता दिख जाती है। कवि के पास कहन का अपना विशिष्ट अंदाज और बिंब है। जरा आप भी देखें—देखो!/उस कालिमा-लालिमा मिश्रित आकाश को देखो/यह समूचा आसमान दिखता है ऐसे/रसोई में माँ ने राख का लीपा लगाया हो जैसे। कवि अपने संकोची व्यक्तित्व के कारण अपनी प्रेमिका को एक प्रेमपत्र भी नहीं लिख पाता। कवि अपने इस संकोच को यूँ शब्द देता है—मेरी कलम भी अजीब है/कुछ भी लिखती रहती है/बस/तुम्हें एक प्रेमपत्र नहीं लिख पाई। कवि ज्योतिष विद्या का अच्छा जानकार है। 'हाथों की लकीरें' शीर्षक कविता में अपने हाथों की लकीरों का वह कुछ यों शब्दचित्र खींचता है—एक टेढ़ी, एक सीधी/दो टूटी, कुछ खुरची/कुछ मोटी, कुछ पतली/कभी बँटती, कभी जुड़ती/मेरे गाँव की पगडंडी-सी/हैं मेरे हाथों की लकीरें। कवि के पास अच्छा लय, अच्छा छंद और अच्छी गीतात्मकता है। संग्रह में कुछेक गीत हैं। एक का आनंद आप भी लीजिए—कटु हार को/जीत लिखा/हर परिस्थिति में/गीत लिखा। एक स्वतंत्र नज़्म की ये चार पंक्तियाँ देखिए—क्या जलवा है!/ निगाहों में हया-सी कुछ/जुबान में पाकीज़गी-सी है/कलम के देखिए जलवे/हवा से बात करती है। और अंत में, चलते-चलते कवि का दार्शनिक रूप भी देख लें—थोड़ी-सी है जिंदगी/चलो थोड़ा और/रोज मरते हैं।

कुल मिलाकर, 'कादम्बिनी' से गुजरकर ऐसा महसूस होता है मानो ताजे और मीठे पानी से भरी किसी नदी से गुजरे हों। ताजे, टटके और अनूठे-अनोखे बिंबों, रूपकों और प्रतीकों का प्रयोग अवनीश की कविताओं में एक अनोखी ताजगी और मौसम की पहली बारिश का सोंधापन भर देते हैं। कविताओं का अनूठा कहन और शिल्प स्वयं को पढ़ा ले जाने की क्षमता रखते हैं।

कहना न होगा कि समीक्ष्य काव्य-संग्रह कविता के मानक पर एक नया प्रतिमान रचता-सा प्रतीत होता है। कविताओं के उद्यान में अनेक रंग और गंध के फूल खिले हैं, और हर फूल अपने आप में एक विशिष्टता लिए हुए है। लेकिन सभी कविताओं में जो बात समान है वह यह है कि सभी कविताओं से माटी की भीनी-भीनी गंध आती है। गाँव, माटी और माँ के त्रिभाव से परिपूरित और महमह करती ये कविताएँ अपने पाठकों को भी अपनी विशिष्ट महक से सिक्त और आप्लावित करेंगी, यह विश्वास किया जाना चाहिए।

nbt.india
एक: सूते सकलम्

आगामी अंक के लिए

पुस्तक संस्कृति

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास की द्विमासिक पत्रिका

पत्रिका का **जुलाई-अगस्त, 2021** का अंक **'सुभाष चंद्र बोस'** विशेषांक होगा।

नेता जी सुभाष चंद्र बोस आजाद हिंद फौज के संस्थापक होने के साथ-साथ भारत की स्वतंत्रता में अहम भूमिका निभाने वाले क्रांतिकारियों में से एक थे। उनके पराक्रम को नमन करते हुए उनकी जयंती अर्थात 23 जनवरी को पराक्रम दिवस घोषित किया गया है। इस संबंध में हम नेता जी के व्यक्तित्व और देश के लिए योगदान, संघर्ष, वीरगाथाओं, आजाद हिंद फौज, रेडियो से प्रसारित उनके संदेश, उनकी स्मृतियों आदि पर केंद्रित लेख, रिपोर्ट, साक्षात्कार, संस्मरण आदि आमंत्रित करते हैं।

इस अंक के लिए सामग्री **15 अप्रैल, 2021** तक भेज सकते हैं।

लेखकों हेतु निर्देश : **1.** सामग्री अधिकतम दो हजार शब्दों तक हो। **2.** रचना मौलिक एवं अप्रकाशित होनी चाहिए। **3.** रचना के साथ संदर्भ के चित्र अवश्य भेजें। **4.** लेखक का चित्र, पाँच पंक्ति में परिचय (संपूर्ण जीवनवृत्त नहीं) भेजें, जिसमें संप्रति, प्रकाशन, सम्मान आदि का विवरण हो। संपर्क के लिए पता, ई-मेल या फोन नंबर जो भी सार्वजनिक करना चाहें, भेजें। **5.** किसी विशेषांक में प्रकाशनार्थ सामग्री समयसीमा के पश्चात भेजने पर स्वीकार्य नहीं होगी। **6.** पत्रिका के संपादक के ई-मेल पर भेजी गई रचनाएँ ही स्वीकार्य होंगी। रचना कृति, यूनिकोड / शिवा मीडियम फॉण्ट में एम.एस. वर्ड या पेजमेकर में ही हो।

नोट : पत्रिका का मुख्य उद्देश्य पुस्तक प्रोन्नयन और पठन अभिरुचि के विकास के लिए उपयोगी सामग्री का प्रकाशन करना है। कहानी-कविताओं के लिए इसमें कम ही स्थान है।

संपादक (पुस्तक संस्कृति), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, 5 नेहरू भवन, वसंत कुंज, सांस्थानिक क्षेत्र, फेज-2, नई दिल्ली-110070

ई-मेल : editorpustaksanskriti@gmail.com • दूरभाष : 011-26707758, 26707876

विश्व पुस्तक मेला-2021

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत विश्व पुस्तक मेला-2021 का आयोजन प्रगति मैदान, नई दिल्ली के स्थान पर आभाषी करेगा।

मेले का आयोजन 06 से 09 मार्च, 2021 तक किया जाएगा जिसका उद्घाटन 05 मार्च, 2021 को होगा। विश्व पुस्तक मेला-2021 का केंद्रीय विषय 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020' है।

मेले के दौरान गत वर्षों की भाँति थीम पवेलियन, पुस्तक विमोचन, सांस्कृतिक-साहित्यिक गतिविधियाँ भी आयोजित की जाएँगी।

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास को मिला लाइफटाइम एचीवमेंट पुरस्कार

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन स्वायत्त संस्था राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत को देश में पुस्तक पठन अभिरुचि के प्रोन्नयन के लिए लाइफटाइम एचीवमेंट पुरस्कार से नवाजा गया है। यह पुरस्कार फूड फोर थॉट फाउंडेशन की ओर से प्रदान किया गया है। यह पुरस्कार नेताजी सुभाष चंद्र बोस की 125वीं जयंती पर दिया गया।

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत द्वारा वार्षिक नेताजी सुभाष चंद्र बोस राष्ट्रीय पठन प्रोन्नयन अभिज्ञान पुरस्कार के गठन की घोषणा

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन पुस्तक एवं पठन प्रोन्नयन के लिए राष्ट्रीय निकाय राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत ने नेताजी सुभाष चंद्र बोस की 125वीं जयंती पर वार्षिक नेताजी सुभाष चंद्र बोस राष्ट्रीय पठन प्रोन्नयन अभिज्ञान पुरस्कार के गठन की घोषणा की है।

यह पुरस्कार प्रति वर्ष 23 जनवरी को बच्चों एवं युवाओं के सशक्तिकरण और पठन संस्कृति के प्रोन्नयन हेतु निरंतर प्रतिबद्धता, नवाचार और समावेशी दृष्टि से कार्य कर रही संस्थाओं, ट्रस्ट, गैर-सरकारी संगठनों, राज्य सरकारों, कॉर्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व समर्थित योजनाओं में उत्कृष्ट योगदान देने वाली संस्थाओं को चिह्नित कर प्रदान किया जाएगा।

23 जनवरी यानी पराक्रम दिवस के अवसर पर न्यास के निदेशक श्री युवराज मलिक ने कहा कि देश में पठन गतिविधि के लिए अथक प्रयास कर रहे गैर-सरकारी/संस्थाओं के समर्थन में न्यास अग्रणी भूमिका निभाएगा। यह पहल न्यास के इंडिया@75 की एकछत्र योजना के तहत की जा रही है।

पाठकीय प्रतिक्रिया

'पुस्तक संस्कृति' नियमित रूप से प्राप्त हो रही है। भारतीय साहित्य और कला-संस्कृति को उभारने और निखारने के लिए आप अपने दायित्व का कुशलता से निर्वहन कर रहे हैं। आपको बहुत-बहुत साधुवाद! आशा है कि यह कारवाँ इसी प्रकार से निर्बाध गति के साथ आगे बढ़ता रहेगा।

जनवरी-फरवरी 2021 अंक में श्री मारवाड़ी पुस्तकालय के 95 वर्षों से संचालित होने की जानकारी मन को छू गई। अहिंदी भाषी क्षेत्र में हिंदी के प्रचार-प्रसार का बीड़ा इस पुस्तकालय और इसके उन्नायकों ने उठा रखा है, बड़े गर्व की बात है। पत्रिका में असम के बारे में अहम जानकारियों का समावेश है। भारत-भू का कोना-कोना संस्कृति का कोष है जिसे अक्षुण्ण रखना सभी की जिम्मेदारी है। भूपेन हाजरिका के बारे में भी गूढ़ जानकारी देकर मेरे ज्ञान में वृद्धि की है। सभी लेख, आलेख व अन्य स्तंभ स्तरीय हैं व पत्रिका के सौंदर्य में श्रीवृद्धि करते हैं। पुनः बधाइयाँ और साधुवाद!

डॉ. गोपाल 'राजगोपाल', उदयपुर, राजस्थान

'पुस्तक संस्कृति' का जनवरी-फरवरी 2021 अंक काबीलेतारीफ है, विशेषकर संपादकीय आलेख-परिचयात्मक-गागर में सागर। इस अंक में सर्वश्री कविता शइकीया, मनोज मोहन, सत्यनारायाण मिश्र की रचनाएँ सराहनीय हैं। आपके अनुभवजन्य प्रयास से पत्रिका की लोकप्रियता बढ़ी है। संपादक जी को बहुत-बहुत बधाई!

राधाकान्त भारती, नई दिल्ली

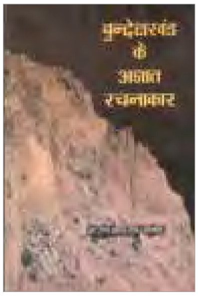

बुंदेलखंड के अज्ञात रचनाकार

डॉ. गंगा प्रसाद गुप्त 'बरसैंया'

बुंदेलखंड के अज्ञात रचनाकारों पर प्रकाशित इस पुस्तक में ऐसे कवियों की कृतियों एवं उनके जीवन के संबंधित तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किए गए हैं, जिनसे हम पहले परिचित नहीं थे। इस पुस्तक में कुल 44 निबंध हैं, जिन्हें पढ़कर बुंदेलखंडी साहित्य के विभिन्न आयामों व उससे जुड़ी प्रतिभाओं के बारे में जानकारी मिलेगी।

अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद।

पृ. 330; रु. 650.00

यह आम रास्ता नहीं है

कमलेश भारतीय

सुप्रसिद्ध लेखक कमलेश भारतीय की इस पुस्तक में कुल 16 कहानियाँ हैं। इनमें से कुछ के शीर्षक इस प्रकार हैं—जादूगरनी, सूनी माँग का गीत, एक सूरजमुखी की अधूरी परिक्रमा, अँधेरी सुरंग में आदि। लेखक पेशे से पत्रकार हैं। अतः उनका सामाजिक व राजनीतिक अनुभव साफतौर पर इन कहानियों में देखा जा सकता है।

इंडिया नेटबुक्स, नोएडा।

पृ. 124; रु. 250.00

निष्फल साम्यवाद-भारत

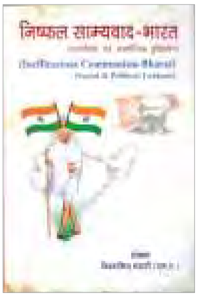

विश्वामित्र भंडारी

12 निबंधों के इस संग्रह में लेखक ने एक इतिहासकार की भाँति पाठकों को साम्यवाद की विचारधारा से परिचित करवाया है। साथ ही इसका साहित्यिक संबंध और फिर इसका भारतीय राजनीति में रूपांतरण, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इसका प्रवेश, क्रांतिकारियों की सोच एवं उनकी कार्यशैली, राष्ट्रवाद एवं शासन प्रणाली आदि मुद्दों को निबंधों में विशेष स्थान दिया है।

गोर्की प्रकाशन, लुधियाना।

पृ. 72; रु. 120.00

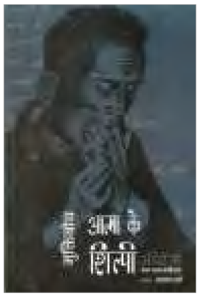

मुक्तिबोध : आत्मा के शिल्पी

संपादक : **सदानंद शाही**

'अँधेरे में' मुक्तिबोध की ही नहीं, आधुनिक हिंदी कविता की चरम उपलब्धि है। प्रस्तुत संकलन में उनकी इसी कविता को केंद्र में रखकर हिंदी के नामचीन साहित्यकारों व पाठकों का विश्लेषण दिया गया है। साथ ही, पुस्तक में मुक्तिबोध की अन्य कविताओं पर भी पाठक वर्ग की प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

लोकायत प्रकाशन, वाराणसी।

पृ. 324; रु. 200.00

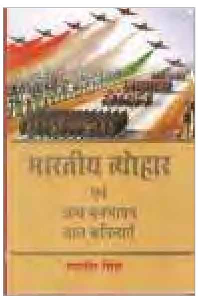

भारतीय त्योहार एवं अन्य मनभावन बाल कविताएँ

रणधीर सिंह

यह बाल-कविताओं का संकलन है, जिसमें कुल 47 कविताएँ हैं। इन कविताओं को हमारे राष्ट्रीय त्योहार, देश-प्रेम और सद्भावना, ओज और वीरता, हमारे सामाजिक त्योहार, अन्य दिवस, जीवन दर्शन, प्रकृति सौंदर्य, ऋतुएँ आदि उपशीर्षकों के अंतर्गत रखा गया है। संग्रह की अधिकतर कविताएँ छंदोबद्ध हैं तथा सभी कविताओं के साथ आकर्षक चित्र भी दिए गए हैं।

एपीएन पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

पृ. 104; रु. 300.00

सतरंगी सपनों के जुगनू

राजेंद्र निशेश

लेखक राजेंद्र कुमार सभरवाल का उपनाम राजेंद्र निशेश है। यह उन्हीं का गजल-संग्रह है, जिसमें गजलों की संख्या 95 है। इन गजलों में शायर ने विषम तथा विकट स्थितियों का आकलन करने का प्रयास किया है।

समदर्शी प्रकाशन, मेरठ।

पृ. 104; रु. 150.00

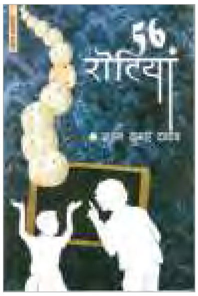

56 रोटियाँ

तरुण कुमार दाधीच

यह बालकथा-संग्रह है, जिसमें कुल 11 कहानियाँ प्रकाशित हैं। इन कहानियों में बच्चों को नैतिक मूल्यों की जानकारी देने के साथ-साथ मेहनत, लगन व ईमानदारी का भाव अपने व्यवहार में लाने के लिए प्रेरित किया गया है। 56 रोटियाँ, बहुमूल्य उपहार, चाय वाला भग्गू, सुधा की जीत, भय का भूत, घमंडी रीता आदि प्रेरक व शिक्षाप्रद कहानियाँ इस संकलन में हैं।

अनुविंद पब्लिकेशन, उदयपुर।

पृ. 64; रु. 90.00

मौन से संवाद

राजेन्द्र राजन

पर्वतीय इलाकों में भारी बर्फबारी के उपरांत भी जीवन थमता नहीं है। यह उपन्यास इसी तरह की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इसमें 18 दृश्य हैं, जिनमें हिमाचल प्रदेश के अत्यंत दुर्गम व भौगोलिक दृष्टि से सालभर में आठ महीने तक बाहरी दुनिया से कटे रहने वाले भू-खंड पांगी के जीवन-दर्शन पर गहनता से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

बोधि प्रकाशन, जयपुर।

पृ. 120; रु. 120.00

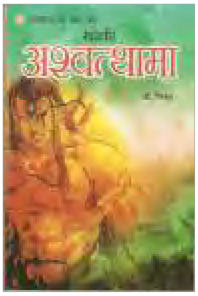

महावीर अश्वत्थामा

डॉ. विनय

गुरुद्रोण के यशस्वी पुत्र अश्वत्थामा ने भी अपने पिता की तरह महाभारत के युद्ध में कौरवों का साथ दिया। इस अमर पात्र को केंद्र में रखकर उपन्यासिक शैली में इस पुस्तक में अश्वत्थामा के जन्म, उनका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, कौरवों से संबंध, महाभारत के युद्ध में उनकी भूमिका से लेकर उनके परलोक गमन तक की जीवन-यात्रा को पाठकों के समक्ष रखा गया है।

डायमंड बुक्स, नई दिल्ली।

पृ. 160; रु. 150.00

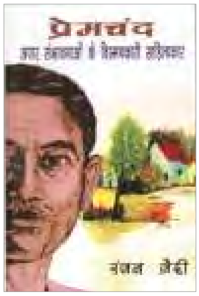

प्रेमचंद : अपार संभावनाओं के विस्मयकारी साहित्यकार

रंजन जैदी

किसी भी लेखक का आकलन उसके लेखन व उसकी विचारधारा से किया जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक रंजन जैदी ने उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की कहानियों, उपन्यासों आदि साहित्य का आकलन गहनता के साथ किया है तथा उनके मनोभावों और उनके चरित्र के उजले पक्ष को पाठकों के समक्ष रखा है।

हंस प्रकाशन, नई दिल्ली।

पृ. 136; रु. 495.00

कोरोना केंद्रित विश्व और भारत

प्रो. रामदेव भारद्वाज

प्रस्तुत पुस्तक में वैश्विक महामारी कोविड-19 से संबंधित लगभग सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। महामारी की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, प्रभाव, बदलती भारतीय जीवन-शैली, रोकथाम के उपाय, चीन की घेराबंदी, आत्मनिर्भर भारत अभियान, मजदूरों का पलायन आदि लगभग सभी पहलुओं का आकलन इस पुस्तक में किया गया है।

इंद्रा पब्लिशिंग हाउस, भोपाल।

पृ. 282; रु. 350.00

द लास्ट गर्ल

नादिया मुराद और जेना क्राजेस्की

अनुवाद : **आशुतोष गर्ग**

नादिया मुराद जिन्होंने आईएसआईएस की कैद में रहते हुए लंबे समय तक अकल्पनीय दुखों को सहन किया, यह संस्मरण उन्हीं की कहानी, उन्हीं की जुबानी है। तीन खंडों में विभाजित इस संस्मरण में नादिया ने आतंकियों द्वारा इराकी यजीदियों पर किए गए अत्याचार व इस्लामिक स्टेट के खिलाफ अपनी लड़ाई के बारे में बताया है। वर्तमान में मानवाधिकार कार्यकर्ता के रूप में काम करने वाली नादिया को वर्ष 2018 में नोबेल शांति पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है।

मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल।

पृ. 264; रु. 299.00

RNI NO. DELHIN / 2016 / 68219

मनोरंजन, ज्ञान और जिज्ञासा की अनूठी दुनिया!

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत के कुछ नए प्रकाशन

वीरबाला तीलू रौतेली

राजेश्वर उनियाल

उत्तराखंड के वैभवशाली इतिहास में थोकदार भूप सिंह की वीरपुत्री तीलू का नाम बड़े गर्व के साथ लिया जाता है। इस वीरांगना ने अत्याचारी कत्यूरी राजा से युद्ध किया था तथा उसके अधीन क्षेत्र को मुक्त करवाया था। यह नाटक-संग्रह वीरबाला तीलू की वीरता व शौर्यता का प्रमाण है, जिसमें 18 नाटक व छह गीत हैं।

पृ. 74; रु. 110.00

पानी-पानी कितना पानी

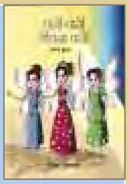

हेमन्त कुमार

चित्र : **सुरेश लाल**

यह पुस्तक नेहरू बाल पुस्तकालय पुस्तकमाला के अंतर्गत 9 से 11 वर्ष के बच्चों के लिए प्रकाशित नाटक-संग्रह है, जिसमें चार रोमांचक व शिक्षाप्रद नाटक हैं—पानी-पानी कितना पानी, चिड़ियों का अनशन, नया तमाशा-नई कहानी तथा जैसी करनी वैसी भरनी।

पृ. 64; रु. 90.00

पूर्वोत्तर की जनजातीय क्रांतियाँ

जगमल सिंह

पूर्वोत्तर भारत में कई ऐसी जनजातियाँ हैं जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम में बढ़-चढ़कर भाग लिया, लेकिन वर्तमान में उनके संघर्ष को भुला दिया गया है। उन जनजातियों की क्रांतियों का विश्लेषण लेखक ने पुस्तक के नौ अध्यायों में किया है, जिनमें मिजो क्रांति, लेपचा-भूटिया, नगा, कूकी, डिमासा आदि क्रांतियाँ सम्मिलित हैं।

पृ. 72; रु. 100.00

बोल मर्दानिया

जसबीर मंड

अनुवाद : **बलराम**

यह पंजाबी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'बोल मर्दानिया' का हिंदी अनुवाद है, जिसके कुल 41 खंड हैं। इन खंडों में गुरुनानक देव जी के साथ सबसे लंबा समय बिताने वाले किरदार मरदाना के जीवन की झलकियाँ उभरकर सामने आती हैं। यह उपन्यास आध्यात्मिक प्रश्नों व जिज्ञासा का एक सफरनामा है।

पृ. 260; रु. 265.00

विचार विनिमय

शचीन्द्रनाथ सान्याल

संपादक : **सुधीर विद्यार्थी**

यह महान क्रांतिकारी नेता शचींद्रनाथ सान्याल द्वारा लिखित पुस्तक का पुनर्प्रकाशन है। इसमें उन्होंने अपने क्रांतिकारी जीवन की घटनाओं, अनुभवों, स्वतंत्रता आंदोलन के विभिन्न पहलुओं तथा उस समय की सामाजिक व राजनीतिक विचारधारा पर प्रकाश डाला था। इस पुस्तक में कुल 23 अध्याय हैं।

पृ. 132; रु. 170.00

सिंगापुर की जल-कथा

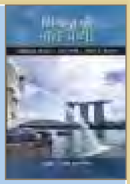

सह-लेखक : **सिसिलिया तोर्त्जदा, युगल जोशी, असित के. बिस्वास**

अनुवाद : **रजनीश कुमार सिन्हा**

यह पुस्तक सिंगापुर की विकास-यात्रा में जल-प्रबंधन के महत्व को दर्शाती है कि किस प्रकार इस क्षेत्र में एक प्रगतिशील समाज द्वारा पर्यावरण की अनदेखी किए बिना कारगर योजनाएँ, नीतियाँ आदि बनाई गईं तथा बेहतर तरीके से उन्हें क्रियान्वित किया गया। पुस्तक में विभिन्न संस्थानों, कानूनों व नियमनों, जलापूर्ति की रणनीतियों, जल की गुणवत्ता व उसके संरक्षण की चिंताओं व मीडिया की साझेदारी व उसके महत्व का भी विश्लेषण किया गया है।

पृ. 330; रु. 535.00

कप्तानों का बचपन

सुशील दोषी, करुण कुमार

चित्र : **अरूप गुप्ता**

यह पुस्तक 8 से 12 वर्ष तक के बाल पाठकों के लिए है। इसमें नवाब पटौदी, सुनील गावस्कर, कपिल देव, सचिन तेंदुलकर, सौरव गांगुली, राहुल द्रविड़, महेंद्र सिंह धोनी आदि क्रिकेट कप्तानों के बचपन के संघर्षों पर प्रकाश डाला गया है, ताकि बच्चे उनके बचपन को पढ़कर उनसे मेहनत व समर्पण की सीख ले सकें।

पृ. 64; रु. 90.00

nbt.india
एकः सूते सकलम्

राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज़-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070.

फोन : 011-26707761 ● **ई-मेल :** nro.nbt@nic.in

वेबसाइट : www.nbtindia.gov.in